रहस्य : रहस्यपूर्णचिट्ठी का

पहला प्रवचन

संतप्त मानस शांत हों, जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में।।

यह रहस्यपूर्णचिट्ठी पण्डित टोडरमलजी की प्रथम रचना है। इस छोटी-सी रचना में जिनागम के अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। यही कारण है कि इसका नाम रहस्यपूर्णचिट्ठी रखा गया है।

यह चिट्ठी विक्रम संवत् १८११ में फाल्गुन कृष्ण पंचमी को मुलतान[१] नगरवासी अध्यात्मप्रेमी मुमुक्षु भाइयों के पत्र के उत्तर में लिखी गई थी। इसमें उन शंकाओं का समाधान है; जो शंकायें मुलतान नगरनिवासी भाई श्री खानचंदजी, गंगाधरजी, श्रीपालजी, सिद्धारथदासजी आदि मुमुक्षु भाइयों ने भेजी थीं।

चिट्ठी की शैली, प्रौढ़ता एवं इसमें प्रतिपादित गंभीर तत्त्वचिंतन देखकर प्रतीत होता है कि पण्डित टोडरमलजी अल्पवय में ही बहुश्रुत विद्वान एवं तात्त्विक विवेचक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। दूर-दूर के लोग उनसे शंका-समाधान किया करते थे।

अरे, भाई ! हम शास्त्र लिखते हैं और उन्हें चिट्ठियों जैसा भी महत्त्व नहीं मिलता और पण्डित टोडरमलजी ने एक चिट्ठी लिखी और वह शास्त्र बन गई। पिछले ढाई सौ वर्षों से शास्त्रसभाओं में शास्त्रों जैसी पढ़ी जा रही है, पूजी जा रही है।

चिट्ठी माने पत्र। पुराने जमाने में पत्रों को चिट्ठी ही कहा जाता था। पत्र एक व्यक्ति लिखता है और वह जिसके नाम लिखता है, उसे वह पढ़ता है; पर पण्डित टोडरमलजी द्वारा लिखा गया यह पत्र ढ़ाई सौ वर्ष से अब तक हजारों लोगों ने पढ़ा है और आगे भी इसीप्रकार पढ़ा जाता रहेगा।

१. यह मुलताननगर तत्कालीन पंजाब प्रान्त का एक नगर है; जो आज लाहौर के निकट पाकिस्तान में है।

आज यह चिट्ठी आचार्य कुन्दकुन्द के समयसारादि ग्रन्थराजों के साथ शास्त्र की गद्दियों पर विराजमान रहती है और उन्हीं के समान बड़े सम्मान के साथ शास्त्रसभाओं में पढ़ी जाती है।

इस पत्र की प्रतिष्ठा से प्रभावित होकर आजकल कुछ लोग प्रकाशन के लोभ में इसप्रकार के पत्र लिखने लगे हैं; पर अभी तक तो किसी को ऐसी सफलता प्राप्त नहीं हुई; क्योंकि न तो उनमें कोई महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु होती है और न वह गंभीरता ही होती है, जो उक्त कृति में पाई जाती है; बस भावुकता भरी बातें होती हैं; जिन्हें वे अध्यात्म और वैराग्य समझते हैं।

पण्डित टोडरमलजी ने यह पत्र लिखते समय यह सोचा भी नहीं होगा कि यह पत्र इतना उपयोगी सिद्ध होगा, इतना लोकप्रिय होगा कि शास्त्रसभाओं में पढ़ा जावेगा। वस्तुत: बात यह है कि **यह पत्र इसमें प्रतिपादित विषयवस्तु के कारण इतना लोकप्रिय हो गया है।**

ऐसे पण्डित तो आपने इस जगत में बहुत देखे होंगे, जिन्होंने शास्त्र पढ़े हैं; पर ऐसे पण्डित दुर्लभ हैं कि जिन्होंने शास्त्रों के साथ आत्मा भी पढ़ा हो। ऐसे पण्डित भी कदाचित् मिल जायें कि जिन्होंने शास्त्र पढ़े हों और आत्मा भी पढ़ा हो; परन्तु ऐसे पण्डित मिलना अत्यन्त दुर्लभ हैं, जिन्होंने शास्त्र भी पढ़े हों, आत्मा भी पढ़ा हो और सारी दुनिया को भी पढ़ा हो, दुनिया की नब्ज भी वे जानते हों।

पण्डितप्रवर टोडरमलजी उन पण्डितों में से थे, जिन्होंने शास्त्र भी पढ़े थे, आत्मा भी पढ़ा था और दुनिया भी पढ़ी थी।

उनकी उस विद्वत्ता की निशानी यह चिट्ठी है, जिस पर हम यहाँ सात दिन चर्चा करेंगे। उस चर्चा में यह बात अपने आप सिद्ध हो जायेगी कि उन्होंने दुनिया भी पढ़ी थी, आत्मा भी पढ़ा था और शास्त्र भी पढ़े थे।

यह उस जमाने की चिट्ठी है, जिस जमाने में आवागमन के कोई साधन नहीं थे। लोग पैदल जाते थे या बैलगाड़ियों से जाते थे अथवा घोड़े से जाते थे। आने-जाने के साधन बहुत सीमित थे।

पण्डित टोडरमलजी जयपुर में रहते थे और मुलतान आजकल पाकिस्तान में है। आज वह परदेश हो गया है। उस जमाने में जयपुर से

मुलतान और मुलतान से जयपुर आना-जाना कितना कठिन काम था ह्न इसकी कल्पना आप कर सकते हैं।

उस जमाने में जबकि आवागमन के साधन अत्यन्त सीमित थे, पण्डित टोडरमलजी की प्रतिष्ठा इतनी दूर-दूर तक सारे देश में फैल गई थी कि लोग अपनी शंकाओं का समाधान करने के लिए उनके पास आते थे और पत्रों द्वारा उनसे समाधान प्राप्त करते थे।

साधर्मी भाई ब्र. रायमलजी अपनी **जीवन पत्रिका (आत्मकथा)** नामक कृति में लिखते हैंह्न

''पीछैं केताइक दिन रहि टोडरमल्ल जैपुर के साहूकार का पुत्र, ताकै विशेष ज्ञान जानि वासूं मिलनें कै अर्थि जैपूर नगरि आए।

सो इहां वाकूं नहीं पाया....।

पीछैं सेखावाटी विषै सिंघाणां नग्र तहां टोडरमल्लजी एक दिली (दिल्ली) का बड़ा साहूकार साधर्मी ताकै समीप कर्म कार्य कै अर्थि वहां रहै, तहां हम गए अर टोडरमल्लजी सूं मिले, नाना प्रकार के प्रश्न कीए, ताका उत्तर एक गोमट्टसार नामा ग्रंथ की साखि सूं देते भए।

ता ग्रंथ की महिमा हम पूर्वै सुणी थी, तासूं विशेष देखी। अर टोडरमल्लजी का ज्ञान की महिमा अद्भुत देखी।[१]''

रहस्यपूर्णचिट्ठी से दस वर्ष बाद लिखी गई **इन्द्रध्वज विधान पत्रिका** नामक आमंत्रण पत्रिका में उन कुछ महत्त्वपूर्ण नगरों के नाम भी हैं, जिन नगरों में वह भेजी गई थी। ध्यान रहे यह चिट्ठी उदयपुर, दिल्ली, आगरा, भिण्ड, औरंगाबाद, इन्दौर, बीकानेर, जैसलमेर, मुलतान, विदिशा, भोपाल, गंजबासौदा जैसे दूरवर्ती नगरों में भेजी गई थी।

कैसे भेजी गई होगी ह्न इसकी कल्पना आप कर सकते हैं। उसके लिए आदमी को भेजना पड़ता था। वह आदमी पैदल जाता था।

उक्त आमंत्रण पत्रिका में लिखा गया था कि ह्न

''सारां ही विषै भाईजी टोडरमलजी कै ज्ञान का क्षयोपशम

१. पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ ३३४-३३५

अलोकीक है। जो गोमट्टसारादि ग्रंथां की संपूर्ण लाख श्लोक टीका बणाई और पांच सात ग्रंथां का टीका बणायवे का उपाय है।

सो आयु की अधिकता हुवां बणैंगा।

अर धवल महाधवलादि ग्रंथां के खोलबा का उपाय कीया वा उहां दक्षिण देस सूं पांच सात और ग्रंथ ताड़पत्रां विषै कर्णाटी लिपि मैं लिख्या इहां पधारे हैं, ताकूं मलजी बांचे हैं, वाका यथार्थ व्याख्यान करै हैं वा कर्णाटी लिपि मैं लिखि ले हैं।

इत्यादि न्याय व्याकरण गणित छंद अलंकार का याकै ज्ञान पाईए है। ऐसे पुरुष महंत बुद्धि का धारक ई काल विषै होनां दुर्लभ है।

तातैं यांसूं मिलें सर्व संदेह दूरि होइ है। घणी लिखबा करि कहा, आपणां हेत का बांछीक पुरुष सीघ्र आय आसूं मिलाप करो।[1]''

उक्त कथनों से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि छोटी-सी उम्र में भी उनकी कितनी प्रतिष्ठा थी।

रहस्यपूर्णचिट्ठी का प्रारंभिक अंश इसप्रकार है ह्व

''सिद्ध श्री मुलताननगर महा शुभस्थान में साधर्मी भाई अनेक उपमा योग्य अध्यात्मरसरोचक भाई श्री खानचन्दजी, गंगाधरजी, श्रीपालजी, सिद्धारथदासजी, अन्य सर्व साधर्मी योग्य लिखी टोडरमल के श्री प्रमुख विनय शब्द अवधारण करना।

यहाँ यथासम्भव आनन्द है, तुम्हारे चिदानन्दघन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिए।

अपरंच तुम्हारा एक पत्र भाईजी श्री रामसिंहजी भुवानीदासजी पर आया था, उसके समाचार जहानाबाद से मुझको अन्य साधर्मियों ने लिखे थे।

सो भाईजी, ऐसे प्रश्न तुम सरीखे ही लिखें। इस वर्त्तमानकाल में अध्यात्मरस के रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य हैं जो स्वात्मानुभव की बात भी करते हैं। वही कहा है ह्व

१. पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ ३४४

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ।।[1]

जिस जीव ने प्रसन्नचित्त से इस चेतनस्वरूप आत्मा की बात भी सुनी है, वह निश्चय से भव्य है। अल्पकाल में मोक्ष का पात्र है।''

यद्यपि यह पत्र पण्डितजी ने उन लोगों के नाम से लिखा था, जिन लोगों के नाम उस पत्र में थे, जिनके द्वारा प्रश्न पूछे गये थे; तथापि पण्डितजी यह अच्छी तरह जानते थे कि ये प्रश्न मुलताननगर के जिनमंदिर में चलनेवाली शास्त्रसभा में चर्चित प्रश्न हैं। अत: उनके उत्तर भी शास्त्रसभा में अवश्य पढ़े जावेंगे।

इसप्रकार यह रहस्यपूर्णचिट्ठी मुलतान जैन समाज के अध्यात्मरस-रोचक साधर्मी भाई-बहिनों के नाम थी। यही कारण है कि वे लिखते हैं कि टोडरमल्ल का श्री प्रमुख विनय शब्द अवधारण करना। तात्पर्य यह है कि सभी को यथायोग्य अभिवादन कहना।

पुराने जमाने में इसप्रकार के सामूहिक पत्रों के अन्त में एक दोहा लिखने की परम्परा थी; जो इसप्रकार है ह्व

चिट्ठी बाँचत के समय, जो जन बैठे होंय।
है जुहारु सब जनन को, जो जी लायक होंय ।।

तात्पर्य यह है कि यह पत्र पढ़ते समय जो लोग बैठे हों, उन सभी को यथायोग्य नमस्कार कहना; बड़ों को प्रणाम, छोटों को आशीर्वाद और बराबरीवालों को जयजिनेन्द्र कहना।

उक्त संदर्भ में एक रोचक संस्मरण सुनने योग्य है।

बात उस समय की है कि जब मैं १४-१५ वर्ष का रहा होऊँगा। मैं मुरैना विद्यालय में पढ़ता था और शास्त्री-न्यायतीर्थ होनेवाला था। गर्मियों की छुट्टी में अपने गाँव आया था।

शादियों की लग्नपत्रिका के साथ एक पत्र आता है; जो लग्नपत्रिका के साथ ही सभी समाज के समक्ष पढ़ा जाता है।

१. पद्मनन्दिपंचविंशतिका (एकत्वाशीति : छन्द २३)

लग्नपत्रिका तो ब्राह्मण पण्डित पढ़ता था, पर पत्र हमारे पिताजी पढ़ा करते थे। उक्त संदर्भ में उनकी मास्टरी थी, वे बहुत लोकप्रिय थे।

मेरी समझ में नहीं आता था कि इसमें ऐसी क्या बात है ? पत्र तो सभी पढ़ सकते हैं, उनसे भी अच्छा पढ़ सकते हैं, पर....।

एक बार पिताजी घर पर नहीं थे; अत: यह काम मुझे मिला; क्योंकि मैं शास्त्री होने जा रहा था। पत्र मैंने पढ़ा, पर सबकुछ गड़बड़ हो गया। सभी पंच असंतुष्ट हो गये। इतने में पिताजी आ गये तो सभी लोगों ने अपना असंतोष व्यक्त किया। सभी कहने लगे कि इन्हें तो पत्र पढ़ना आता ही नहीं है। उसी पत्र को पिताजी से दुबारा पढ़वाया गया और सभी वाह-वाह कहने लगे।

वहाँ तो मैंने कुछ नहीं कहा; पर घर आकर पिताजी से कहा कि आपने जिन लोगों के नाम बोले, वे नाम तो पत्र में थे ही नहीं।

उन्होंने समझाया उस दोहे में लिखा था कि पत्र पढ़ते समय जो-जो लोग बैठे हों; उन सभी को हमारा जुहारु कहना; सो हमने जो-जो लोग बैठे थे, उनके नाम बोल दिये और कह दिया कि आप सबको जुहारु कहा है।

पिताजी की इसीप्रकार की चतुराई के कारण वे इतने अधिक लोकप्रिय थे।

उस समय चिट्ठियाँ व्यक्तियों को नहीं, समाज को लिखी जाती थीं; व्यक्ति की ओर से नहीं, समाज की ओर से लिखी जाती थीं। शादी की लग्न पत्रिका के साथ जानेवाली चिट्ठी भी लड़कीवालों के गाँव की समाज की ओर से लड़केवाले के गाँव की समाज को लिखी जाती थी।

इसीप्रकार यह रहस्यपूर्णचिट्ठी भी उन सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों के नाम थी; जो उस काल में मुलतान दिगम्बर जिनमंदिर में चलनेवाली शास्त्रसभा के दैनिक श्रोता थे।

इस पत्र में यह पंक्ति भी ध्यान देने योग्य है, जिसमें लिखा है कि **तुम्हारे चिदानन्दघन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिए।**

देखो, यहाँ लौकिक सुखों की कामना नहीं की; अपितु ज्ञानानन्द-स्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न अतीन्द्रिय आनन्द की बात की है। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यहाँ अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति की नहीं, वृद्धि की कामना की है।

आपको अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति हो ह्न ऐसा लिखकर वे सभी साधर्मी भाइयों को अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद से वंचित मानने को तैयार नहीं थे। इसलिए उन्होंने **अतीन्द्रिय आनन्द की वृद्धि की कामना की है।**

अतीन्द्रिय आनन्द की उत्पत्ति माने संवर, आनन्द की वृद्धि माने निर्जरा और आनन्द की पूर्णता माने मोक्ष।

साधर्मी भाइयों को आनन्द की पूर्णतारूप मोक्ष तो नहीं मान सकते और अभी आनन्द की उत्पत्ति ही नहीं हुई ह्न ऐसा भी मानने को मन नहीं करता। अत: सहजानन्द की वृद्धि की भावना भाना ही उचित है।

पण्डितजी के इस एक वाक्य में सम्पूर्ण समयसार समाहित हो गया है। इसमें कहा गया है कि सहजानन्द की प्राप्ति, वृद्धि और पूर्णता चिदानन्दघन के अनुभव से होती है, ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से होती है; पर के आश्रय से नहीं, तीर्थों के आश्रय से नहीं, क्रियाकाण्ड के आश्रय से नहीं, पूजा-पाठ से नहीं, दानादिक से नहीं; यहाँ तक कि देव-शास्त्र-गुरु के आश्रय से भी नहीं। अरे, भाई ! एक अस्ति में से जितनी भी नास्ति निकालना हो, निकाल लो; जितनी निकाल सकते हो, निकाल लो। **एक आत्मा को छोड़कर जिन-जिन के आश्रय से तुमने अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति मान रखी है, उन-उनसे नहीं होती ह्न ऐसा समझ लेना।**

समयसार में भी तो यही है। इससे अतिरिक्त और क्या है ?

पर से भिन्न, पर्याय से पार, ज्ञान और आनन्द का घनपिण्ड त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के आश्रय से, अनुभव से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है। **आत्मा के अनुभव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ह्न ये तीनों चीजें शामिल हैं। चौथे गुणस्थान के और उसके ऊपर के गुणस्थानों के सभी जीव अनुभवी हैं।**

अनुभव दो प्रकार का होता है। एक तो वह जब उपयोग आत्मसम्मुख होता है, आत्मानुभव होता है, शुद्धोपयोगरूप दशा होती है।

आत्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो जाने के बाद, जब उपयोग बाहर आ जाता है, अन्य शुभाशुभभावों और शुभाशुभ क्रियाओं में लग जाता है; किन्तु अनुभूति के काल में आत्मा में जो अपनापन आया था, आत्मा को निजरूप जाना था, उससे अनंतानुबंधी कषाय के अभावपूर्वक जो शुद्धि प्रगट हुई थी; वह सब कायम रहती है; इसकारण **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय कायम रहता है, लब्धिज्ञान में आत्मा निजरूप भासित होता रहता है, आत्मा में अपनापन बना रहता है, अनंतानुबंधी कषाय के अभावरूप शुद्धि कायम रहती है; उक्त स्थिति भी अनुभवरूप ही है। इसे हम शुद्धपरिणति भी कह सकते हैं।**

इसप्रकार अनुभव दो प्रकार का हो गया। एक अनुभूति के काल का अनुभव और दूसरा सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं को निरन्तर रहनेवाला अनुभव।

लोक में बोलते हैं न कि मुझे अमुक काम का दस वर्ष का अनुभव है। जब लोग यह कहते हैं कि मुझे एम.ए. कक्षाओं को पढ़ाने का दस वर्ष का अनुभव है तो क्या वे दस वर्ष तक निरन्तर पढ़ाते रहे हैं ?

नहीं, पढ़ाना तो माह में कुछ दिनों, घंटे दो घंटे का ही होता है। शेष समय में तो खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना ह्न सभी कुछ चलता है।

इसीप्रकार भले ही उपयोग बाह्य पदार्थों में हो, यदि रत्नत्रय कायम है तो वह काल भी एक अपेक्षा से अनुभव का काल ही है।

आप कह सकते हैं कि दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है और आप दोनों को अनुभव कह रहे हैं ?

अरे, भाई ! ऐसा नहीं है। दोनों स्थितियों में विशेष अन्तर नहीं है; क्योंकि दोनों ही स्थितियों में चौथे गुणस्थान में नहीं बंधनेवाली ४१ प्रकृतियों का बंध नहीं होता और निर्जरा निरन्तर होती रहती है। ऐसा नहीं है कि उक्त प्रकृतियों का बंध मात्र शुद्धोपयोगरूप अनुभव के काल में ही न होता हो और भोजन करते समय, युद्ध करते समय उनका बंधना

आरंभ हो जाता हो। इसीप्रकार ऐसा भी नहीं है कि उसे अनुभूति के काल में ही निर्जरा होती हो, भोजनादि के काल में न होती हो।

बंध और संवर-निर्जरा की प्रक्रिया का धर्मकांटा करणानुयोग अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में उक्त तथ्य का उद्घाटन करता है।

अरे, भाई ! बंध न होने और संवर-निर्जरा होने का मूल कारण शुद्धोपयोग के साथ-साथ शुद्धपरिणति भी है। छठवें गुणस्थानवाले मुनिराजों को आहार-विहार और उपदेशादि के काल में शुद्धोपयोग का अभाव होने पर भी पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के आत्मानुभव के काल से भी असंख्य गुणी निर्जरा होती है।

उक्त तथ्य से अपरिचित सामान्यजनों की स्थिति तो यह है कि जरा सा पूजा-भक्ति का शुभराग हुआ, दान देने का भाव आ गया तो गलगलियाँ छूटने लगती हैं और वे ऐसा मानने लगते हैं कि हम धर्मात्मा हो गये।

अरे, भाई ! इससे तो पुण्य का बंध होता है, बंध का अभाव नहीं, निर्जरा नहीं। उक्त भावों से यह पुण्यात्मा भले ही बन जाय, पर धर्मात्मा नहीं बन सकता; क्योंकि धर्म का आरंभ तो सम्यग्दर्शन से ही होता है।

अनुभव के उक्त दूसरे अर्थ के अनुसार टोडरमलजी कहते हैं कि अनुभवी होने से तुम्हें सहजानन्द तो निरंतर है ही; हम तो आपके उक्त सहजानंद की वृद्धि चाहते हैं।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक अनंतानुबंधी कषाय के जाने से आपको सहजानन्द तो है ही, हम तो उसमें वृद्धि चाहते हैं।

यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान में भी प्रतिसमय, सहजानन्द की वृद्धि हो रही है; तथापि हम चाहते हैं कि आपको अप्रत्याख्यानावरण का अभाव होकर पंचम गुणस्थान प्रगट हो। आप उससे भी आगे बढ़े। नग्न दिगम्बर मुनिदशा को प्राप्त हों।

आत्मानुभव के काल में वृद्धि होना और वियोगकाल में कमी होना भी सहजानन्द की वृद्धि है। जैसे किसी सम्यग्दृष्टि जीव को छह माह में एक बार क्षणभर के लिए आत्मानुभवरूप दशा होती है। छह माह के

वियोगकाल में निरन्तर कमी होते जाना और अनुभूति की स्थिरता के काल में वृद्धि होते जाना ही अनुभूति की वृद्धिंगत दशा है।

ज्यों-ज्यों आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती जाती है और ज्यों-ज्यों पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होती जाती है, त्यों-त्यों आत्मा में शुद्धि की वृद्धि होती जाती है।

आत्मा में प्रतिसमय होनेवाली शुद्धि की वृद्धि भावनिर्जरा है और उक्त शुद्धि की वृद्धिपूर्वक कर्मों का झड़ना द्रव्यनिर्जरा है। इसप्रकार हम देखते हैं कि चिदानन्दघन के अनुभव से होनेवाली सहजानन्द की वृद्धि में सम्पूर्ण मोक्षमार्ग समाहित है, समयसार समाहित है।

जिसप्रकार समयसार की ६वीं व ७वीं गाथाओं में संक्षेप में सम्पूर्ण समयसार समाहित हो जाता है; उसीप्रकार पण्डित टोडरमलजी की उक्त एक पंक्ति में भी समयसार समाहित हो गया है।

समयसार के १५वें कलश और १६वीं गाथा में भी यही बात है। कहा है ह्न

(अनुष्टुभ्)

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ।।१५।।

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय आतमा अपनाइये।।
बस साध्य-साधक भाव से इस एक को ही ध्याइये।
अर आप भी पर्याय में परमातमा बन जाइये।।१५।।

स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुष साध्यभाव और साधकभाव से इस ज्ञान के घनपिण्ड भगवान आत्मा की ही उपासना करें।

इस कलश का भाव यह है कि जिन पुरुषों में आत्मकल्याण की भावना हो, वे पुरुष चाहे साध्यभाव से करें या साधकभाव से करें; पर उन्हें ज्ञान के घनपिण्ड एकमात्र अपने आत्मा की उपासना करना चाहिए।

वह उपासना सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सेवनरूप ही है।

जैसा कि १६वीं गाथा में कहा है ह्न

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ।।१६।।

(हरिगीत)

चारित्र दर्शन ज्ञान को सब साधुजन सेवें सदा।
ये तीन ही हैं आतमा बस कहे निश्चयनय सदा।।१६।।

साधुपुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सदा सेवन करना चाहिए और उन तीनों को निश्चय से एक आत्मा ही जानो।

इसप्रकार हम देखते हैं कि चिदानन्दघन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि में ज्ञान के घनपिण्ड भगवान आत्मा की उपासना या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन ह्न सबकुछ आ जाता है।

यद्यपि पुराने जमाने में यथायोग्य नमस्कार के बाद **अत्र कुशलं तत्रास्तु** लिखने की परम्परा थी, जिसका अर्थ होता है कि यहाँ कुशलता है और आपके यहाँ भी कुशलता हो ह्न हम ऐसी कामना करते हैं। उसके स्थान पर **यहाँ यथासंभव आनन्द है, तुम्हारे चिदानन्दघन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिए ह्न** वाक्य लिखकर पण्डित टोडरमलजी ने एकप्रकार से सम्पूर्ण मोक्षमार्ग का ही दिग्दर्शन कर दिया है। **ज्ञानी की बात-बात में द्वादशांग का सार आ जाता है।**

सामान्यजनों की स्थिति तो यह है कि कोई लड़का-लड़की उन्हें नमस्कार करे तो वे खुश रहो बेटा, दूधो नहाओ, पूतो फलो, तुम्हारे धंधे-व्यापार में तरक्की हो, न मालूम क्या-क्या कहते हैं ?

अरे, भाई ! ये सब पापभाव हैं और यह आशीर्वाद पापभावों की वृद्धि का आशीर्वाद है। रुपया-पैसा परिग्रह है और उसकी वृद्धि परिग्रहरूप पाप की ही वृद्धि है। अरे, भाई ! यह आशीर्वाद है या अभिशाप ?

ज्ञानीजनों की वृत्ति तो देखो ! वे तो तुम्हारे चिदानन्दघन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिए ह्न इसप्रकार का मंगल आशीर्वाद देते हैं।

यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है कि तुम्हारे चिदानन्दघन के

अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिए के ठीक पहले यह भी लिखा है कि यहाँ यथासंभव आनन्द है। यह आनन्द भी चिदानन्दघन के अनुभव से ही उत्पन्न हुआ आनन्द है। यथासंभव का अर्थ है भूमिकानुसार। तात्पर्य यह है कि पंडितजी परोक्षरूप से यह कह रहे हैं कि मैं भी यहाँ अपनी भूमिकानुसार चिदानंदघन के अनुभव से उत्पन्न आनंद से आनंदित हूँ।

पण्डित टोडरमलजी पत्र में आगे लिखते हैं कि ***तुम्हारा पत्र भाईश्री रामसिंहजी भुवानीदासजी पर आया, उसके समाचार जहानाबाद से मुझको अन्य साधर्मियों ने लिखे थे।***

उक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि यह पत्र पण्डितजी को नहीं लिखा गया था। यह तो जहानाबाद के लोगों को लिखा गया था। जब उन्हें इन प्रश्नों का उत्तर नहीं आया तो उन्होंने उस पत्र को टोडरमलजी के पास जयपुर भेज दिया।

तात्पर्य यह है कि न तो टोडरमलजी मुल्तानवालों को जानते थे और न मुल्तानवाले ही टोडरमलजी को जानते थे; पर जहानाबाद के लोग टोडरमलजी की विद्वत्ता से भलीभाँति परिचित थे।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जिनसे पण्डितजी परिचित नहीं थे और जिनके द्वारा भेजे गये सभी प्रश्न भी इसप्रकार के नहीं थे कि जिसमें उनका ज्ञानीपन झलकता हो; फिर भी वे उन्हें अज्ञानीजनों जैसा संबोधित नहीं करते, उनके लिए सहजानन्द की वृद्धि की कामना करते हैं, जिसमें अप्रत्यक्षरूप से ज्ञानीपन झलकता है।

आज की स्थिति तो यह है कि बड़े से बड़े विद्वान के लिये भी हम ऐसे शब्दों के प्रयोग से बचने का प्रयास करते हैं कि जिससे प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से उन्हें ज्ञानी न समझ लिया जाय। कुछ लोग तो प्रवचन और वाचन में भी भेद करते हैं। उनकी दृष्टि में प्रवचन तो मात्र ज्ञानियों के ही होते हैं और अज्ञानीजनों का शास्त्रव्याख्यान करना उनकी दृष्टि में वाचन है। उनके द्वारा इस भेदव्यवहार का आधार क्या है? समझ में नहीं आता।

इसप्रकार की प्रवृत्ति गुजरातियों में अधिक पाई जाती है। जबकि

गुजरात में तो नेताओं के राजनैतिक भाषणों को भी प्रवचन कहा जाता है। जो भी हो...। आप अपने मन में किसी को कुछ भी क्यों न समझें, पर साधर्मियों को परस्पर ऐसे वचन व्यवहार से अवश्य बचना चाहिए, जिनमें इसप्रकार का भेदभाव अभिव्यक्त होता हो।

भाग्य की बात है कि आज हमारे पास पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्णचिट्ठी तो है; पर वह पत्र उपलब्ध नहीं है, जिसके उत्तर में यह चिट्ठी लिखी गई थी।

यद्यपि हम यह नहीं जान सकते कि उसमें किसप्रकार के संबोधन थे; तथापि पण्डितजी के उत्तरों के आधार पर उन प्रश्नों का अनुमान तो कर ही सकते हैं, जिनके उत्तर इस रहस्यपूर्णचिट्ठी में हैं।

हमारा कहना तो यह है कि पूर्णत: अपरिचित व्यक्तियों का; उनके पत्र के आधार पर, उनकी रुचि, योग्यता, जिज्ञासा और उनके ज्ञान का स्तर जानकर जिसप्रकार का पत्र लिखा गया है; उसके आधार पर हम वचनव्यवहार संबंधी मार्गदर्शन तो प्राप्त कर ही सकते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री आध्यात्मिकसत्पुरुष कानजी स्वामी जीवन भर आत्मा के गीत गाते रहे, ४५ वर्ष तक लगातार एक आत्मा का स्वरूप ही समझाते रहे। हमने अनेक बार देखा है कि कुछ भी क्यों न हो, पर उन्होंने अपने प्रवचन के विषय को नहीं बदला।

चैन्नई में पंचकल्याणक के अवसर पर गुरुदेवश्री का प्रवचन चल रहा था। सामने तमिलनाडु की जनता बैठी थी। उनमें से अधिकांश भाई-बहिन हिन्दी-गुजराती से भी अपरिचित थे, जैनधर्म के सामान्यज्ञान से भी वंचित थे; पर गुरुदेवश्री बिना किसी विकल्प के दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का स्वरूप ही समझा रहे थे।

एक बार तो हमें ऐसा लगा कि ये क्या कर रहे हैं ? इस सभा में तो सामान्य सदाचार की चर्चा करना चाहिए, सद्व्यवहार की प्रेरणा दी जानी चाहिए, णमोकार महामंत्र सुनाना चाहिए, उसका भाव समझाना चाहिए।

क्या गुरुदेवश्री को.......। पर क्या करें, वे तो इसप्रकार की औपचारिकता से दूर ही रहें। चौबीस वर्ष की उम्र में स्थानकवासी सम्प्रदाय

में दीक्षा ले ली और जगत से अलिप्त ही रह गये। उन्हें क्या पता कि लौकिक व्यवहार क्या होता है ? आज की दुनिया कितनी बदल गई है, कहाँ से कहाँ पहुँच गई है।

पर धीरे-धीरे हमारी समझ में आया कि समझदारी का काम तो इस दुनियादारी से अलिप्त रहना ही है।

उनका कहना तो यह था कि हमारे पास तो यह असली माल है। जिसको लेना हो, ले ले; समझना हो समझ लें। समझ में आये तो यह है, समझ में न आये तो यह है।

अरे, भाई ! समझ में क्यों नहीं आयेगा ? प्रत्येक आत्मा स्वयं समझ का पिण्ड है न, भगवान है न ! जब शेर की समझ में आ गया था तो मनुष्यों की समझ में क्यों नहीं आयेगा ?

यदि वे चारणऋद्धिधारी मुनिराज भी यही सोचते कि इस क्रूर शेर की समझ में कैसे आयेगा, तो फिर क्या होता, उस सिंह को देशना कैसे प्राप्त होती, बिना देशनालब्धि के उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी कैसे होती ?

सन् १९७२-७३ में जब मैं **'तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ'** पुस्तक लिख रहा था; तब इस प्रकरण को लिखते समय मुझे बहुत विकल्प खड़े हुए कि मुनिराजों ने आखिर शेर को क्या समझाया होगा ?

इसके लिए मैंने उक्त प्रसंग को अनेक शास्त्रों में देखा तो लगभग सभी जगह यही लिखा था कि हे मृगराज ! तेरी यह क्या दशा हो रही है, तू तो भविष्य का तीर्थंकर है, तू महावीर के रूप में चौबीसवाँ तीर्थंकर होनेवाला है। इसीप्रकार की अनेक बातें लिखी पाईं।

मैंने भी उसी के अनुसार एक-दो पेज लिख दिये।

पुस्तक छपने में चली गई थी। जल्दी होने से रात में ही उक्त पेज छप रहे थे; पर मुझे रात के २ बजे यह विचार आया कि **त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का स्वरूप समझे बिना सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है ? अत: यह निश्चित ही है कि मुनिराजों ने उसे दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का स्वरूप अवश्य समझाया होगा। यदि यह सत्य है तो अपने को भी इस प्रसंग पर उक्त विषय का विवेचन अवश्य करना चाहिए।**

यह सोच ही रहा था कि यह प्रश्न उपस्थित हो गया कि **यह पर और पर्याय से भिन्न त्रिकाली भगवान आत्मा की बात शेर को समझ में कैसे आई होगी ?**

अन्तत: इस निर्णय पर पहुँचा कि आई तो थी ही, यदि नहीं आई होती तो सम्यग्दर्शन कैसे होता ?

दूसरी बात यह भी तो है कि शास्त्रों में जो कुछ लिखा है और अपन ने भी अभी तक जो कुछ लिखा है; वह भी तो लगभग ऐसा ही है।

तुम भविष्य में तीर्थंकर होनेवाले हो ह्न यह बात भी तो शेर के लिए आसान नहीं है; क्योंकि वह क्या जाने कि तीर्थंकर क्या होता है।

इसीप्रकार तुम सातवें नरक से आये हो ह्न यह समझना भी तो उसे आसान नहीं है; क्योंकि वह क्या जाने स्वर्ग-नरक। स्वर्ग कितने होते हैं और नरक कितने होते हैं, वह तो यह भी नहीं जानता।

अत: इस विकल्प से कि समझ में नहीं आयेगी आत्मा की बात लिखना ही नहीं, समझदारी की बात नहीं है। **यदि देशनालब्धि का प्रकरण है तो आत्मा-परमात्मा की बात आनी ही चाहिए।**

यह विचार कर मैंने रात के दो बजे चलती मशीन रुकवाकर निम्नांकित अंश उसमें जोड़ दिया ह्न

"देह में विराजमान, पर देह से भिन्न एक चेतन तत्त्व है। यद्यपि उस चेतन तत्त्व में मोह-राग-द्वेष की विकारी तरंगे उठती रहती हैं; तथापि वह ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व उनसे भिन्न परमपदार्थ है, जिसके आश्रय से धर्म प्रगट होता है। उस प्रगट होनेवाले धर्म को सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र कहते हैं।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र दशा अन्तर में प्रगट हो, इसके लिए परम-पदार्थ ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुव आत्मतत्त्व की अनुभूति अत्यन्त आवश्यक है। उस अनुभूति को ही आत्मानुभूति कहते हैं। वह आत्मानुभूति जिसे प्रगट हो गई, 'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान जिसे हो गया; वह शीघ्र ही भव-भ्रमण से छूट जायेगा।

'पर' से भिन्न चैतन्य आत्मा का ज्ञान ही भेदज्ञान है। यह भेदज्ञान

और आत्मानुभूति सिंह जैसी पर्याय में भी उत्पन्न हो सकती हैं और उत्पन्न होती भी हैं। अत: हे मृगराज ! तुझे इन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न चाहिए।

हे मृगराज ! तू पर्याय की पामरता का विचार मत कर, स्वभाव के सामर्थ्य की ओर देख। तू भी सिद्ध के समान अनन्तज्ञानादि गुणों का पिण्ड है। ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से ही पर्याय में सामर्थ्य प्रगट होती है। इतना ज्ञान तेरी वर्तमान पर्याय में भी प्रगट है कि जिससे तू चैतन्यतत्त्व का अनुभव कर सके।

जिसप्रकार सिंह-शावक अपनी माँ सिंहनी को हजारों के बीच पहिचान लेता है। भले ही वह अपनी माँ को किसी नाम या गाँव से न जानता हो, पर उसे जानता अवश्य है; उसीप्रकार तू भले ही तत्त्वों के नाम न जान पावे, तो भी 'पर' से भिन्न आत्मा को पहिचान सकता है।

इस समय तेरे परिणामों में भी विशुद्धि है। तू अन्तरोन्मुखी होकर आत्मा के अनुभव का अपूर्व पुरुषार्थ कर, तुझे अवश्य ही आत्मानुभूति प्राप्त होगी। तेरी काललब्धि आ चुकी है, तेरी भली होनहार हमें स्पष्ट दिखाई दे रही है, तुझमें सर्वप्रकार पात्रता प्रगट हुई प्रतीत हो रही है।

तू एक बार रंग-राग और भेद से भिन्न आत्मा का अनुभव करने का अपूर्व पुरुषार्थ कर...कर...कर...![१]''

पण्डित टोडरमलजी ने भी यह विचार नहीं किया कि किसी की समझ में आयेगा या नहीं ? उन्होंने तो मुलतानवाले भाइयों के प्रति यही भावना भायी कि तुम्हारे चिदानन्दघन के अनुभव से सहजानन्द की वृद्धि चाहिए।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस रहस्यपूर्णचिट्ठी का एक-एक वाक्य ऐसा है; जो मोक्षमार्ग की सम्पूर्ण प्रक्रिया पर प्रकाश डालने में समर्थ है।

यही कारण है कि यह चिट्ठी शास्त्र बन गई है। इसलिए हमें इस चिट्ठी को पत्र के रूप में नहीं, शास्त्र के रूप में पढ़ना चाहिए, इसका गहराई से अध्ययन करना चाहिए, इसका स्वाध्याय करना चाहिए। ●

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ३२-३३

दूसरा प्रवचन

संतप्त मानस शांत हों, जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में।।

पण्डितों के पण्डित आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्णचिट्ठी पर चर्चा चल रही है।

पण्डितजी ने जिन भाइयों के नाम यह पत्र लिखा था, उनके लिए उन्होंने **अध्यात्मरसरोचक** विशेषण से संबोधित किया है। उनके पत्र में जो प्रश्न पूछे गये थे, उनके आधार पर पण्डितजी इस बात को समझ गये थे कि वे लोग अध्यात्म के रसिक हैं, अध्यात्म के अध्ययन से रुचि रखनेवाले हैं।

अध्यात्म की रुचि रखनेवालों के प्रति उनके हृदय में कितना और कैसा वात्सल्यभाव था; यह उनके निम्नांकित कथन में उपलब्ध होता है ह्न

''सो भाईजी, ऐसे प्रश्न तुम सरीखे ही लिखें। इस वर्तमानकाल में अध्यात्मरस के रसिक बहुत थोड़े हैं। धन्य हैं जो स्वात्मानुभव की बात भी करते हैं।''

अध्यात्मसंबंधी चर्चा करनेवालों की दुर्लभता पण्डित टोडरमलजी के समय में भी थी और आज भी है।

यहाँ कोई कह सकता है कि आज तो आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रताप से अध्यात्मरस की चर्चा करनेवालों की कोई कमी नहीं है, आज तो गाँव-गाँव में अध्यात्मप्रेमी प्राप्त होते हैं, घर-घर में अध्यात्म की चर्चा चलती है।

अरे, भाई ! ऐसे तो टोडरमलजी के जमाने में भी जयपुर में अध्यात्म-प्रेमियों की कमी नहीं थी और गाँव-गाँव में शास्त्रसभायें भी चलती थीं। मुलतान से प्राप्त पत्र से ही यह सबकुछ स्पष्ट है; तथापि पूरे भारत वर्ष के अनुपात में तो अत्यल्प ही हैं।

पण्डितजी का वात्सल्यभाव तो देखो, वे आत्मानुभव की बात करनेवालों को भी धन्य मानते हैं, धन्यवाद देते हैं।

वे अपनी बात की पुष्टि में जो प्रमाण प्रस्तुत करते हैं; वह प्रमाण तो इससे भी आगे हैं; क्योंकि उसमें तो बात करनेवालों को ही नहीं, प्रीतिपूर्वक आत्मा की बात सुननेवालों को भी अल्पकाल में मोक्ष जानेवाला बताया गया है। तात्पर्य यह है कि **जब सुननेवाले भी निकटभव्य होते हैं तो बात करनेवाले और आत्मानुभूति करनेवालों का तो कहना ही क्या है ?**

इसप्रकार हम देखते हैं कि पण्डित टोडरमलजी ने मुलतानवाले तत्त्वप्रेमी साधर्मी भाइयों को **अध्यात्मरसरोचक** विशेषण देकर उनके प्रति न केवल अपना सद्भाव प्रगट किया है, अपितु अपनी परिपुष्ट अध्यात्मरुचि का परिचय भी दे दिया है।

आचार्य अमृतचन्द्र समयसार परमागम की आत्मख्याति टीका पूरी करते हुए जो अन्तिम छन्द लिखते हैं, उसमें स्वयं तो **स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र सूरि** लिखते हैं। यह भी लिखते हैं कि इस आत्मख्याति टीका लिखने में स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र का कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र ने इसमें कुछ भी नहीं किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार उनके दो रूप हैं। प्रथम तो वह जो निरन्तर आत्मा में गुप्त रहना चाहता है, रहता है और दूसरा वह जो प्रवचन करते थे, शिष्यों को पढ़ाते थे, शास्त्र लिखते थे। पहला है स्वरूप में गुप्त शुद्धोपयोगी अमृतचन्द्र का और दूसरा है पठन-पाठन करनेवाले शुभोपयोगी अमृतचन्द्र का।

आचार्यश्री कहते हैं कि मेरा अपनापन स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र में है। इसलिए मैं कहता हूँ कि यह लिखने-पढ़ने का काम स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र का नहीं है।

प्रश्न : यदि अमृतचन्द्र ने टीका नहीं की तो फिर उस टीका की प्रामाणिकता का क्या होगा ?

उत्तर : अरे, भाई ! स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र ने नहीं बनाई, पर टीका करने के विकल्पवाले आचार्य अमृतचन्द्र तो व्यवहार से टीका के कर्ता हैं ही।

तीन कषाय के अभावरूप शुद्धि तो दोनों अमृतचन्द्रों में है; अत: सच्ची मुनिदशा भी दोनों के ही विद्यमान है। अत: टीका की प्रामाणिकता में सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है।

आजकल जगत की स्थिति तो ऐसी है कि पत्रों में सब दुनियादारी की ही बातें लिखते हैं। समाज के झगड़े, राजनीति के झगड़े, गाँव के झगड़े, घर की समस्यायें, बीमारियों की चर्चा ह्न यही सबकुछ होता है आज के पत्रों में।

अरे, भाई ! संसार तो दु:खों का घर है; इसमें जीवों को संयोग-वियोग, अनुकूलता-प्रतिकूलता तो लगी ही रहती है। जगत इस स्थिति के बीच यदि कोई आत्मानुभव संबंधी बात लिखता है तो वह नियम से विशिष्ट व्यक्ति है, धर्मात्मा है, साधर्मी है; उसके प्रति ज्ञानीजनों को वात्सल्यभाव का उमड़ना स्वाभाविक ही है।

इस संसार में अध्यात्म की चर्चा करनेवाले तो सदा ही कम रहनेवाले हैं। ६ महीना ८ समय में जब ६०८ जीवों को ही मोक्ष में जाना है तो मोक्षमार्ग के पथिक असीमित कैसे हो सकते हैं ? अत: आत्मार्थियों की संख्या कम देखकर चित्त को आंदोलित करने की आवश्यकता नहीं है; परन्तु यह भी तो सहज ही है कि ज्ञानीजनों को इसप्रकार की चर्चा करनेवालों को देखकर प्रसन्नता होती ही है।

जौहरियों की दुकान पर भीड़ नहीं रहती। वहाँ तो गिने-चुने ग्राहक ही आते हैं। इसीप्रकार अध्यात्म की चर्चा करनेवाले तो थोड़े ही होते हैं।

दशलक्षण महापर्व के अवसर पर जब हमारे छात्र नगर-नगर में गाँव-गाँव में प्रवचनार्थ जाते हैं तो मार्गदर्शन देते हुए मैं कहता हूँ कि यदि कहीं श्रोताओं की संख्या कम मिले तो अपने चित्त को आंदोलित नहीं करना।

टोडरमल स्मारक भवन के प्रवचन मण्डप में, जहाँ मैं प्रवचन करने बैठता हूँ; उसकी दाहिनी ओर दीवाल पर एक चित्र लगा है; जिसमें दिखाया गया है कि हिरण को मारकर खाते हुए शेर को दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज उपदेश दे रहे हैं।

उस चित्र को दिखाते हुए मैं कहता हूँ कि देखो यह सभा, इसमें एक

श्रोता है और वह भी मनुष्य नहीं, पशु शेर और वक्ता हैं दो, वे भी महान सन्त मुनिराज। जरा सोचो कैसी होगी वह सभा ?

हजारों की संख्यावाली हमारी सभा अच्छी है या वह, जिसमें श्रोता तो एक था, पर वह अपना कल्याण करने में सफल हुआ। हमारी हजारों श्रोताओंवाली सभा में से एक भी नहीं सीझता।

आज सन्तों की सार्वजनिक सभाओं में दस-दस हजार की भीड़ रहती है, पर उनमें कितने लोग जैनधर्म को स्वीकार करते हैं ?

मनोरंजन के लिए सुनने को आना अलग बात है और आत्मकल्याण की भावना से भगवान महावीर का मूल तत्त्वज्ञान समझने की भावना से सुनना अलग बात है।

छात्रों में से कोई कहता है कि श्रोता तो थे, पर अच्छे लोग नहीं थे, पगड़ी-साफावाले थे, रात में खानेवाले थे, जमींकंद भी खाते थे ह्न ऐसे लोगों को हम क्या सुनाते ?

उन्हें समझाते हुए हम कहते हैं कि शेर जैसे क्रूर मांसाहारी तो नहीं थे। तात्पर्य यह है कि मुनिराजों ने तत्त्व की बात समझाने के पहले शेर पर कोई शर्तें नहीं लादी थीं। जिस स्थिति में शेर था, उसी स्थिति में सदुपदेश दिया था। कभी-कभी मुझे विकल्प आता है कि मुनिराजों को उपदेश देने के पहिले इतना तो कहना ही था कि जावो कुल्ला करके आओ, फिर हम कुछ समझायेंगे।

पहिले से ही शर्तें लगाने से हो सकता है कि कोई आपकी बात सुने ही नहीं। अरे, भाई ! सदाचारी बनाने के लिए भी तो समझाने का काम करना होगा। **बिना समझाये हम किसी को सदाचारी भी कैसे बना सकते हैं ? कुल्ला करके आओ ह्न यह भी तो सुनाना ही है, सदुपदेश ही है।**

मुझसे लोग कहते हैं कि आप आत्मा की ऊँची-ऊँची बातें करते हैं; पर आपको पता है कि आपके सामने सिर हिलानेवाले इन श्रोताओं का आचरण कैसा है ? आप क्या जानें इन्हें ? इन्हें तो हम जानते हैं कि ये क्या-क्या करते हैं ?

अरे, भाई ! हमें जानना भी नहीं है; क्योंकि जानकर भी हम क्या

करेंगे ? किसी को प्रवचन सुनने से तो रोक नहीं सकते। हमारे पास ऐसा क्या उपाय है कि एक-एक श्रोता की जाँच कर सकें। जब हम हवाईजहाज से यात्रा करते हैं तो वहाँ सुरक्षा के लिए कुछ मशीनें लगी रहती हैं, जिनमें से हमें गुजरना पड़ता है। उनके द्वारा यह पता लग जाता है कि हमारे पास कोई खतरनाक हथियार तो नहीं है।

अब आप ही बताइये कि हमारे पास ऐसा कौनसा साधन है कि जिसके माध्यम से हम यह पता लगा सकें कि आप दुराचारी तो नहीं हैं?

तीर्थंकरों की धर्मसभा (समोशरण) में मनुष्य और देवताओं के साथ शाकाहारी-मांसाहारी सभी पशु-पक्षी भी जाते थे तो हम अपनी सार्वजनिक सभा में किसी को आने से कैसे रोक सकते हैं, हमारे पास रोकने का साधन भी क्या है ?

इसप्रकार की रोक तीर्थंकरों ने नहीं लगाई, सन्तों ने नहीं लगाई; लगाई होती तो भगवान महावीर बननेवाला शेर भी सदुपदेश से वंचित हो सकता था। आप ही बताओ इस संदर्भ में हम क्या कर सकते हैं ?

जब मैं यह कहता हूँ तो लोग कहते हैं कि तुम क्या चाहते हो; लोग माँस-मदिरा का सेवन करते रहें और तुम्हारा उपदेश सुनते रहें ?

अरे, भाई ! हम ऐसा क्यों चाहेंगे ? मुनिराजों का उपदेश सुनने के बाद उस शेर ने पूर्ण जिन्दगी माँस-मदिरा का सेवन नहीं किया।

यदि उसे इसकारण नहीं सुनाते, नहीं समझाते; तो यह दिन भी कैसे आता ? उस शेर ने जीवनभर माँसभक्षण तो किया ही नहीं, अनछना पानी भी नहीं पिया।

क्या बात करते हो, उसके पास छन्ना तो था नहीं, लोटा भी नहीं था; फिर पानी कैसे छानता होगा वह ?

शास्त्रों में लिखा है कि जहाँ झरना हो, ऊपर से पानी गिर रहा हो तो वह पानी प्रासुक हो जाता, छना हुआ मान लिया जाता है। उक्त पानी को वह पीता था, न मिले तो प्यासा ही रह जाता था।

कठिनाई की बात तो यह है कि माँसाहारियों की आंतें और दाँत ऐसे

नहीं होते कि वे घास खा सकें और उन्हें हलुआ-पुड़ी कोई खिलाने से रहा। ऐसी स्थिति में उसे शेष जीवन निराहार ही बिताना होगा।

जीवन-मौत की कीमत पर उस शेर ने यह सबकुछ किया। जरा सोचिये तो सही उसका शेष जीवन कैसा रहा होगा ?

इस पर आप कह सकते हैं कि क्या श्रोता मांसभक्षी भी हो सकते हैं?

नहीं, भाई ! हम तो यह कह रहे हैं कि प्रवचनों में आने से तो किसी पर प्रतिबंध लगाना संभव नहीं है। यह बात तो मात्र प्राथमिक श्रोता की है। श्रोता तो गणधरदेव भी हैं। श्रोता कैसा होना चाहिए ह्न यह जानने के लिए मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रथम अधिकार में समागत वक्ता-श्रोता संबंधी प्रकरण का गहराई से स्वाध्याय किया जाना चाहिए।

मैं तो यह कह रहा था कि धर्मोपदेश देने में श्रोताओं की संख्या का विचार नहीं करना। भीड़ नहीं, पात्रता देखना चाहिए। पात्रता का अर्थ क्षयोपशम और विशुद्धिलब्धि से सम्पन्न होना है।

इस पर कोई कह सकता है कि हिरण को मारकर खा रहे शेर में मुनिराजों ने क्या पात्रता देखी थी ?

अरे, भाई ! एक तो वे मुनिराज उस शेर के भूत और भविष्य के बारे में बहुत कुछ जानते थे; दूसरे वह शेर उक्त **मुनिराजों की ओर जिज्ञासा भाव से मेढ़े की भाँति टकटकी लगाकर देख रहा था। इससे उन मुनिराजों को उसकी पात्रता ख्याल में आ गई।**

कोई व्यक्ति आत्मा की चर्चा को कितनी रुचिपूर्वक सुन रहा है, कितने ध्यान से सुन रहा है ह्न यह बात उसकी आँखों से पता चल जाती है।

आज के श्रोताओं की स्थिति तो यह है कि तत्त्व की गंभीर से गंभीर चर्चा क्यों न चल रही हो; तो भी वे बार-बार घड़ी देखने लगते हैं।

यदि प्रवचन में एक घंटा से ५ मिनिट भी अधिक हो जावें तो प्रवचनकार को घड़ी दिखाने लगते हैं। फिर भी यदि वक्ता प्रवचन बंद न करें तो घड़ी लाकर सामने रख देते हैं। यह सब क्या है ?

पण्डित टोडरमलजी अनुभवसंबंधी प्रश्न पूछनेवालों को उत्तर देने के पहले धन्यवाद देते हैं।

जिन पत्रों में अनुभवसंबंधी प्रश्न पूछे गये हों, ऐसे पत्र तो अनुभवी विद्वानों के पास ही आते हैं। वे लोग टोडरमलजी के ज्ञान पर ही रींझे थे और टोडरमलजी भी उनकी आध्यात्मिक रुचि पर रींझ गये, उन्हें धन्य कहने लगे, उनका अभिनंदन करने लगे।

एक सेठजी के पास डाकुओं का पत्र आया। उसमें लिखा था कि इतने लाख रुपये लेकर अमुक स्थान पर आ जावो, नहीं तो हम आपके लड़के को पकड़ कर ले जावेंगे। सेठजी ने क्या किया ह्न इसका तो मुझे पता नहीं; पर हमने तो आजतक किसी डाकू के हस्ताक्षर ही नहीं देखे। लगता है कि इस भव में ऐसा अवसर कभी प्राप्त भी नहीं होगा; क्योंकि हमारे पास ऐसा कुछ है ही नहीं कि जो डाकुओं को चाहिए। डाकुओं के पत्र तो सेठों के पास ही आते हैं, पण्डितों के पास नहीं।

अध्यात्म के विशेषज्ञ विद्वानों के पास तो अध्यात्मरुचि सम्पन्न आत्मार्थी भाई-बहिनों के ही पत्र आते हैं, उनसे मिलने भी वही लोग आते हैं। इसप्रकार उन्हें तो सदा सत्समागम ही प्राप्त होता है।

पण्डितजी लिखते हैं कि **'वर्तमानकाल में अध्यात्मरस के रसिक बहुत थोड़े हैं'** इसका अर्थ यह मत समझना कि उनको सुननेवाले योग्य श्रोता उपलब्ध नहीं थे; क्योंकि उनकी सभा का चित्रण साधर्मी भाई रायमलजी इसप्रकार करते हैं ह्न

''तिन विषै दोय जिन मंदिर तेरापंथ्यां की शैली विषै अद्भुत सोभा नैं लीयां, बड़ा विस्तार नैं धर्‌यां बणें। तहां निरंतर हजारां पुरष-स्त्री देवलोक की सी नांई चैत्यालै आय महा पुन्य उपारजै, दीर्घ काल का संच्या पाप ताका क्षय करै।

सौ पचास भाई पूजा करने वारे पाईए, सौ पचास भाषा शास्त्र बांचनें वारे पाईए, दश बीश संस्कृत शास्त्र बांचनें वारे पाईए, सौ पचास जनैं चरचा करनें वारे पाईए और नित्यान का सभा के सास्त्र का व्याख्यान विषै पांच सै सात सै पुरष तीन सै च्यारि सै स्त्रीजन सब मिलि हजार बारा सै पुरष स्त्री शास्त्र का श्रवण करै, बीस तीस बायां शास्त्राभ्यास करै, देश देश का प्रश्न इहां आवै तिनका समाधान होय

उहां पहंचै, इत्यादि अद्‌भुत महिमां चतुर्थकालवत या नग्र विषै जिनधर्म की प्रवर्त्ति पाइए है।[१]

सभा विषै गोमट्टसारजी का व्याख्यान होय है। सो बरस दोय तौ हूवा अर बरस दोय तांई और होइगा। एह व्याख्यान टोडरमल्लजी करैं हैं।[२]

सारां ही विषै भाईजी टोडरमलजी के ज्ञान का क्षयोपशम अलोकीक है जो गोमट्टसारादि ग्रंथां की संपूर्ण लाख श्लोक टीका बणाई और पांच सात ग्रंथां का टीका बणायवे का उपाय है।

सो आयु की अधिकता हुंवा बणैंगा।

अर धवल महाधवलादि ग्रंथां के खोलबा का उपाय कीया वा उहां दक्षिण देस सूं पांच सात और ग्रंथ ताड़पत्रां विषै कर्णाटी लिपि में लिख्या इहां पधारे हैं, ताकूं मलजी बांचैं हैं, वाका यथार्थ व्याख्यान करैं हैं वा कर्णाटी लिपि मैं लिखि ले हैं। इत्यादि न्याय व्याकरण गणित छंद अलंकार का याकै ज्ञान पाईए है। ऐसे पुरुष महंत बुद्धि का धारक ईं काल विषै होनां दुर्लभ है। तातैं यांसूं मिलें सर्व संदेह दूरि होइ है।

घणी लिखबा करि कहा, आपणां हेत का बांछीक पुरुष सीघ्र आय यासूं मिलाप करो।[३]''

उक्त उद्धरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि टोडरमलजी साहब को न श्रोताओं की कमी थी और न उनके प्रति वात्सल्यभाव रखनेवाले की कमी थी।

तत्कालीन समय में अध्यात्म के रसिकों की कमी की चर्चा तो सम्पूर्ण भारतवर्ष के संबंध में थी; जो उचित ही है कि करोड़ों में हजारों तो बहुत थोड़े ही होते हैं न ?

जिस समय यह पत्र लिखा गया था उस समय और उसके सात-आठ वर्ष तक पण्डितजी की आर्थिक स्थिति विशेष अच्छी नहीं थी। वे

---

१. जीवन पत्रिका : पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ ३३६

२. इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका : पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ ३४०

३. वही, पृष्ठ ३४४

बाल-बच्चोंवाले गृहस्थ विद्वान थे। उनके दो लड़के और एक लड़की थी। लड़कों के नाम हरिचंद और गुमानीराम थे। गुमानीरामजी उन जैसे ही विद्वान थे और उन्होंने पण्डित टोडरमलजी के बाद उनके द्वारा विस्तारित आध्यात्मिक क्रान्ति का नेतृत्व किया था।

उनके नाम से एक गुमानपंथ नामक पंथ भी चला।

उनके बारे में पण्डित देवीदासजी गोधा सिद्धान्तसार टीका की प्रशस्ति में लिखते हैं ह्न

''....तथा तिनिके पीछे टोडरमलजी के बड़े पुत्र हरीचंदजी तिनिते छोटे गुमानीरामजी महाबुद्धिमान वक्ता के लक्षण कूं धारैं, तिनिके पास किछू रहस्य सुनि करि कछू जानपना भया।''

उक्त रहस्यपूर्णचिट्ठी लिखने के बाद उन्हें अपने नगर जयपुर को छोड़कर शेखावाटी के सिंघाणा नामक गाँव में आजीविका के लिए जाना पड़ा था। वहाँ वे एक जैनी साहूकार के यहाँ मुनीमी का काम करते थे। उस जमाने में १५० किलोमीटर से अधिक दूर जाना परदेश में जाने जैसा ही था।

इतने प्रसिद्ध विद्वान कि उनसे चर्चा करने दूर-दूर से लोग आते थे, पत्रों द्वारा अपनी शंकाओं का समाधान करते थे; फिर भी उन्हें अपनी आजीविका के लिए इतनी दूर जाकर नौकरी करनी पड़ी थी। यह एक सोचने की बात है। जो भी हो...।

जब साधर्मी भाई रायमलजी उन्हें खोजते हुए सिंघाणा पहुँचे और उनके सामने अपने प्रश्न प्रस्तुत किये तो पण्डित टोडरमलजी ने उनके सभी प्रश्नों के उत्तर गोम्मटसार ग्रंथ के आधार पर दिये। इसकारण उनके करणानुयोग संबंधी ज्ञान की गहराई का पता ब्र. रायमलजी को लगा।

यद्यपि वे अपनी शंकाओं का समाधान करने कुछ दिन के लिए ही वहाँ गये थे; पर उनके सत्समागम की भावना से वहीं ठहर गये।

वे उनसे इतनी गहराई से जुड़ गये कि उनके आग्रह पर टोडरमलजी ने गोम्मटसार की टीका लिखना आरंभ कर दिया तो वे उसके अध्ययन में जुट गये। वे स्वयं लिखते हैं कि वे लिखते गये और हम बाँचते गये।

साधर्मी भाई ब्र. रायमलजी का उक्त कथन इसप्रकार है ह्व

''पीछैं ऐसैं हमारे प्रेरकपणां का निमित्त करि इनकै टीका करनें का अनुराग भया। पूर्वैं भी याकी टीका करने का इनका मनोर्थ था ही, पीछैं हमारे कहनें करि विशेष मनोर्थ भया।

तब शुभ दिन मुहूर्त्त विषै टीका करनें का प्रारंभ सिंघांणा नग्र विषै भया। सो वै तौ टीका बणावते गए, हम बांचते गए।

बरस तीन मैं गोम्मटसार ग्रंथ की अठतीस हजार ३८०००, लब्धिसार क्षपणासार ग्रंथ की तेरह हजार १३०००, त्रिलोकसार ग्रंथ की चौदह हजार १४०००, सब मिलि च्यारि ग्रंथां की पैंसठि हजार (श्लोक प्रमाण) टीका भई।

पीछैं सवाई जैपुर आए। तहां गोमटसारादि च्यारौं ग्रंथां कूं सोधि याकी बहोत प्रति उतराई। जहां सैली छी तहां सुधाइ सुधाइ पधराई। अैसैं या ग्रंथां का अवतार भया।[1]''

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका सिंघाणा में ही लिखी जा चुकी थी। उसके बाद ब्र. रायमलजी के साथ पण्डितजी जयपुर आये और यहाँ सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका अर्थात् गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड और लब्धिसार-क्षपणासार की टीका के प्रचार-प्रसार का काम जोरदार ढंग से आरंभ हुआ।

विक्रम संवत् १८१८ में पण्डित टोडरमलजी जयपुर आये। उसके पूर्व लगभग ४ वर्ष तक सिंघाणा रहे। ब्र. रायमलजी उनसे मिलने विक्रम सं. १८१५ में वहाँ पहुँचे और लगभग ३ वर्ष तक वहीं रहें। उसी काल में सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका की रचना हुई।

ऐसा लगता है कि साधर्मीभाई रायमलजी ने जयपुरवालों को समझाया होगा कि तुम कैसे लोग हो। तुम्हें इतना बड़ा विद्वान सहज ही उपलब्ध है और तुम लोग उनका लाभ नहीं उठा रहे। उनका अधिकांश समय मुनीमी करने में जा रहा है।

कोई व्यक्ति मात्र आजीविका के लिए आठ-दस घंटे तन तोड़ मेहनत करे, थककर चकनाचूर हो जाये; ऐसी स्थिति में वह अपने आत्मकल्याण के योग्य स्वाध्याय कर ले ह्व यही बहुत है। उससे शास्त्रों की टीका करने जैसे काम की अपेक्षा करना उचित नहीं है; तथापि पण्डितजी ने सिंघाणा में उक्त परिस्थिति में भी यह सबकुछ करके दिखवा दिया था। वे अद्भुत प्रतिभा के धनी थे।

१. जीवन पत्रिका : पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ ३३५

आज कुछ लोग समझते हैं कि कार्य मुक्त (रिटायर्ड) हो जाने पर बुढ़ापे में यह काम करेंगे।

ऐसे लोग बहुत बड़े धोखे में हैं; क्योंकि जब जीवन भर समर्पित भाव से अध्ययन-मनन-चिन्तन करते हैं; तब बुढ़ापे में कुछ लिखने योग्य होते हैं। काम के योग्य न रहने से जब सरकार आपको मुक्त कर देती है; आपको बिना काम किये ही पेंशन देकर आपसे छुटकारा पाती है, तब आप यह महान कार्य करेंगे। **अरे, भाई ! जो जीवन भर करेगा, वह बुढ़ापे में भी कर सकता है; पर जिसने अपना महत्त्वपूर्ण जीवन तो घृत-लवण-तेल-तंदुल में बिता दिया, वह यदि बुढ़ापे में कुछ करने का प्रयास करेगा तो जिनवाणी को विकृत करने के अलावा कुछ नहीं कर पावेगा।**

जयपुर में उस समय जैनियों के १० हजार घर थे। उस समय सम्मिलित परिवार की परम्परा थी। अत: एक परिवार के १० सदस्य भी मानें तो १ लाख दिगम्बर जैन जयपुर में रहते थे।

उस समय राजा की मंत्री परिषद में ९ जैन मंत्री थे। उनमें बालचंदजी छाबड़ा और रतनचन्दजी दीवान प्रमुख थे।

जब इन दोनों को इस बात का पता चला तो वे इस दिशा में सक्रिय हो उठे। परिणामस्वरूप पण्डित टोडरमलजी को अति आग्रह पूर्वक जयपुर लाया गया और उनकी सम्पूर्ण व्यवस्था की गई। उनके साहित्य को जन-जन तक पहुँचाने का काम बड़े पैमाने पर किया गया।

आठ-दस प्रतिलिपिकार विद्वानों की व्यवस्था की गई, वे लोग टोडरमलजी की कृतियों की प्रतिलिपियाँ किया करते थे। उन प्रतिलिपियों को जहाँ-जहाँ स्वाध्याय की शैलियाँ थीं, वहाँ-वहाँ पहुँचाई गईं।

यह तो सर्वविदित ही है कि मृत्युदण्ड के बाद उनका सभी सामान

जब्त कर लिया गया था। उस सामान की लिस्ट हमें प्राप्त हुई है। उस लिस्ट में जो-जो सामान लिखे गये हैं, उन्हें देखने से लगता है कि वे एक सम्पन्न गृहस्थ थे। उनके मकान में नौकर के सपरिवार रहने की व्यवस्था भी थी। नौकर के घर में प्राप्त सामान की भी लिस्ट बनाई गई थी, उस लिस्ट को देखने से लगता है कि वह लिस्ट भी ऐसी नहीं थी कि जिसे देखने पर ऐसा लगे कि वह साधन हीन था।

ध्यान रहे, नौकर का सामान उसे वापिस दे दिया गया था।

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि समाज द्वारा की गयी व्यवस्था साधारण नहीं थी, अपितु पण्डितजी की गरिमा के अनुरूप थी।

यह सब उचित ही था; क्योंकि गृहत्यागी ब्रह्मचारियों की व्यवस्था भी तो समाज करता ही है। उसमें तो समाज इस बात का भी ध्यान नहीं रखता कि उन त्यागी ब्रह्मचारियों के द्वारा धर्म व समाज की कुछ सेवा हो रही है या नहीं।

जयपुर आने के बाद पण्डित टोडरमलजी ने आत्मानुशासन की टीका लिखी और मोक्षमार्गप्रकाशक आरंभ किया। जब मोक्षमार्गप्रकाशक का सातवाँ अधिकार लिखा जा रहा था, तभी बीच में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका भी आरंभ कर दी।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका के मंगलाचरण में मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार की छाया स्पष्टरूप से देखी जा सकती है।

उनके असमय में निधन से मोक्षमार्गप्रकाशक और पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय टीका ह्न ये दोनों ही ग्रंथ अधूरे रह गये हैं।

यह समाज का दुर्भाग्य ही समझो कि जब वे पूर्ण निश्चिन्त होकर जिनवाणी की सेवा में सम्पूर्णत: समर्पित हुए तो सामाजिक राजनीति के शिकार हो गये।

यदि वे अधिक काल तक हमारे बीच रह पाते तो उनके द्वारा जो काम होता, उसका अनुमान सहज लगाया जा सकता है; पर जो काम वे कर गये हैं, वह भी कम नहीं है।

यदि हम चाहें तो प्राप्त मोक्षमार्गप्रकाशक से सन्मार्ग प्राप्त कर सकते हैं।

पण्डितजी ने यह रहस्यपूर्णचिट्ठी विक्रम संवत् १८११ में लिखी थी। तब उनकी उम्र ३३-३४ वर्ष की रही होगी। यह तो स्पष्ट ही है कि उस समय वे इतनी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। तब भी उन्हें स्वानुभव की चर्चा करनेवालों की जयपुर में कमी लगती थी। ऐसी स्थिति में सिंघाणां में उन्हें इसप्रकार की चर्चा करनेवाला कौन मिला होगा ?

तात्पर्य यह है कि उन्हें सिंघाणा जाने का विचार मात्र आजीविका के लिए आया होगा। **गृहस्थ विद्वानों की यह मजबूरी है कि वे अपने रहने का स्थान और काम अपनी रुचि से नहीं चुन सकते। अत: उनके स्थान और काम को उनकी रुचि का द्योतक नहीं माना जा सकता।**

जिन लोगों ने आत्मकल्याण की भावना से ब्रह्मचर्य व्रत लिया है और बाप-दादों की सम्पत्ति से जीवन-यापन करने योग्य आर्थिक व्यवस्था, जिन्हें सहज ही उपलब्ध है; उन सौभाग्यशाली लोगों को तो ऐसा स्थान और ऐसा काम चुनना चाहिए कि जहाँ और जिसमें जिनवाणी के अध्ययन-अध्यापन की सुविधा हो।

यदि जिनागम और परमागम का गहरा अध्ययन नहीं है तो ऐसा स्थान चुनना चाहिए, जहाँ उन्हें पढ़ानेवाले उपलब्ध हों; और काम भी ऐसा ही चुनना चाहिए कि जो जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में सहयोगी हो।

यदि वे स्वयं इतने योग्य हैं कि उन्हें किसी अन्य से पढ़ने की आवश्यकता नहीं है, वे स्वयं सबसे ऊपर हैं तो उन्हें ज्ञानदान (पढ़ने-पढ़ाने) के काम में लगना चाहिए और ऐसे स्थान पर रहना चाहिए कि जहाँ उन्हें उनसे कुछ सीखने के सत्पात्र लोग उपलब्ध हों। यदि जिनवाणी की सेवा करने की पात्रता हो तो वह करना चाहिए।

यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो समझना चाहिए कि उन्हें आत्मकल्याण की सच्ची रुचि नहीं है तथा जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में भी रस नहीं है। जिन कामों में कषायभाव की वृद्धि होती हो और जिन कामों में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह संग्रह ह्न पाँचों पापों की प्रवृत्ति सामान्य गृहस्थों के समान ही होती हो; उसमें ही उत्साहपूर्वक उलझे रहते हों तो फिर उनके ब्रह्मचर्य व्रत लेने का क्या लाभ है ?

भाग्य की बात है कि टोडरमलजी को यह सुविधा प्राप्त नहीं थी, पर साधर्मी भाई रायमलजी को यह सुविधा प्राप्त थी। ब्र. रायमलजी ने अपने जीवन में इसका पूरा-पूरा लाभ उठाया। वे टोडरमलजी के पास सिंघाणा और जयपुर में रहे तथा जिनवाणी की सेवा तथा वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार में स्वयं को समर्पित कर दिया।

पण्डित टोडरमलजी गृहस्थ विद्वान थे और साधर्मीभाई ब्रह्मचारी रायमलजी त्यागी-व्रती थे; फिर भी ब्र. रायमलजी स्वयं को पण्डित टोडरमलजी का सहयोगी ही समझते थे, उनसे तत्त्वज्ञान सीखने की भावना रखते थे, उनके लिए सभी सुविधायें जुटाने में संलग्न थे, उनकी पूरी अनुकूलता का ध्यान रखते थे।

वे चाहते थे कि उनसे जितना अधिक लिखा लिया जाय, उतना अच्छा है; क्योंकि वे समझते थे कि जिनवाणी की सेवा जितनी अच्छी पण्डितजी से हो सकती है, उतनी उनसे नहीं।

कैसी विचित्र विडम्बना है कि महापण्डित टोडरमलजी तो सिंघाणा अपनी आजीविका के लिए गये थे; पर साधर्मी भाई ब्र. रायमलजी पण्डित टोडरमलजी के सत्समागम के लिए गये थे।

उस युग में इन दो मल्लों (टोडरमल और रायमल) की जोड़ी ने जो कमाल कर दिखाया; उससे आज भी हम सब उपकृत हैं।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के सान्निध्य में ब्रह्मचर्य लेने वाले आत्मार्थियों की वृत्ति और प्रवृत्ति भी ऐसी ही थी; पर आजकल इसमें कुछ शिथिलता आती जा रही है।

आज के बहुधंधी ब्रह्मचारियों को पण्डित टोडरमलजी, साधर्मी भाई रायमलजी एवं स्वामीजी के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए, उनके जीवन से कुछ सीखना चाहिए।

इसके बाद पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह्न

"सो भाईजी, तुमने प्रश्न लिखे उनके उत्तर अपनी बुद्धि अनुसार कुछ लिखते हैं सो जानना और अध्यात्म आगम की चर्चागर्भित पत्र तो शीघ्र दिया करें, मिलाप तो कभी होगा तब होगा। और निरन्तर स्वरूपानुभवन का अभ्यास रखोगेजी। श्रीरस्तु।"

अबतक औपचारिकता की बातें चल रही थीं; अब उनके प्रश्नों के उत्तर लिखे जावेंगे, जिनकी चर्चा अगले प्रवचनों में होगी।

ज्ञानीजनों की औपचारिकता में भी महानता होती है, विनम्रता होती है, कुछ जानने लायक होता है, कुछ सीखने लायक होता है।

देखो, उक्त वाक्यखण्ड में भी उनकी निरभिमानी विनम्रता झलकती है।

चारों अनुयोगों के प्रतिपादक शास्त्रों को आगम और अध्यात्म के प्रतिपादक शास्त्रों को परमागम कहते हैं।

वे उनसे ऐसे ही आगम और अध्यात्मगर्भित पत्र लिखने का अनुरोध करते हैं; क्योंकि यातायातविहीन उस युग में सुदूरवर्ती आत्मार्थी भाई-बहिनों से मिलाप होना इतना आसान नहीं था।

पण्डितजी को इसप्रकार के पत्राचार में कोई रस नहीं था; जिसमें राजनीति की चर्चा हो, सामाजिक झगड़ों की चर्चा हो या घर-गृहस्थी की बातें हों। वे तो निरन्तर आगम और अध्यात्म में ही मग्न रहना चाहते थे।

उससे भी अधिक महत्त्व उनकी दृष्टि में स्वरूपानुभवन का था। इसलिए वे लिखते हैं कि भले पत्र न दे सको तो कोई बात नहीं, पर आत्मा के अनुभव का प्रयत्न निरन्तर करते रहना; क्योंकि निरन्तर करने योग्य कार्य तो एकमात्र आत्मा के अनुभव का प्रयास करते रहना ही है।

करणानुयोग के उच्च कोटि के विद्वान होने पर भी आत्मानुभव की इतनी लगन बहुत कम लोगों में देखने को मिलती है। प्राय: देखा तो यह जाता है कि करणानुयोग के अभ्यासी उसी में लगे रहते हैं; आत्मानुभव की चर्चा तक नहीं करते हैं। करते भी हैं तो बहुत कम, वह भी अरुचिपूर्वक।

इसीप्रकार आत्मा के अनुभव की बात करनेवालों को करणानुयोग नहीं रुचता; पर पण्डितजी की यह विशेषता है कि वे करणानुयोग के साथ-साथ अध्यात्म के भी पारंगत विद्वान थे और दोनों का संतुलन जैसा उनके जीवन में देखने में आता है, वैसा अन्यत्र अत्यन्त दुर्लभ है। ●

तीसरा प्रवचन

संतप्त मानस शांत हों, जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में।।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्णचिट्ठी की चर्चा चल रही है। अबतक पत्र के आरंभ में लिखी जानेवाली औपचारिक चर्चा ही हुई है; अब प्रश्नों के उत्तर आरंभ होते हैं।

पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह्न

''अब, स्वानुभवदशा में प्रत्यक्ष-परोक्षादिक प्रश्नों के उत्तर स्वबुद्धि अनुसार लिखते हैं।

वहाँ प्रथम ही स्वानुभव का स्वरूप जानने के निमित्त लिखते हैं ह्न

जीव पदार्थ अनादि से मिथ्यादृष्टि है। वहाँ स्व-पर के यथार्थरूप से विपरीत श्रद्धान का नाम मिथ्यात्व है तथा जिसकाल किसी जीव के दर्शनमोह के उपशम-क्षय-क्षयोपशम से स्व-पर के यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान हो, तब जीव सम्यक्त्वी होता है; इसलिए स्व-पर के श्रद्धान में शुद्धात्मश्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है।

तथा यदि स्व-पर का श्रद्धान नहीं है और जिनमत में कहे जो देव, गुरु, धर्म उन्हीं को मानता है; व सप्त तत्त्वों को मानता है; अन्यमत में कहे देवादि व तत्त्वादि को नहीं मानता है; तो इसप्रकार केवल व्यवहारसम्यक्त्व से सम्यक्त्वी नाम नहीं पाता; इसलिए स्व-पर भेदविज्ञानसहित जो तत्त्वार्थश्रद्धान हो उसी को सम्यक्त्व जानना।[1]''

स्वानुभवदशा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति होती है। मुलतानवाले भाइयों का मूल प्रश्न ही स्वानुभव दशा में प्रत्यक्ष-परोक्षादि ज्ञान की स्थिति के बारे में है; अत: सर्वप्रथम स्वानुभव को समझना आवश्यक है। **स्वानुभव को समझने के लिए स्वानुभवदशा में उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को समझना आवश्यक है। अत: सर्वप्रथम पण्डितजी सम्यग्दर्शन की चर्चा आरंभ करते हैं।**

---

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४१-३४२

स्व-पर के भेदविज्ञानपूर्वक यथार्थ श्रद्धानरूप तत्त्वार्थश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन में शुद्धात्मा के श्रद्धानरूप निश्चय सम्यग्दर्शन भी गर्भित है।

उक्त निश्चयसम्यग्दर्शन ही वास्तविक सम्यग्दर्शन है; इसके बिना जिनागम में निरूपित सच्चे देव-गुरु-धर्म को माननेरूप और अन्यमत कल्पित देवादि व तत्त्वों को न माननेरूप व्यवहारसम्यग्दर्शन मात्र से कोई जीव सम्यग्दृष्टि नहीं हो जाता। अत: **स्व-पर के भेदज्ञानसहित तत्त्वार्थ-श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन जानना।**

शास्त्रों में सम्यग्दर्शन के मुख्यरूप से चार लक्षण प्राप्त होते हैं।

१. सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का नाम सम्यग्दर्शन है।

२. विपरीताभिनिवेश रहित तत्त्वार्थश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

३. आत्मश्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है।

४. स्व-पर भेदविज्ञानपूर्वक होनेवाला आत्मानुभव ही सम्यग्दर्शन है।

वस्तुत: बात यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव में उक्त चारों बातें ही पाई जाती हैं। वस्तुत: बात यह है कि **परद्रव्यों से भिन्न त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा की अनुभूतिपूर्वक निजात्मा में अपनापन ही वास्तविक सम्यग्दर्शन है, निश्चयसम्यग्दर्शन है।** इसप्रकार स्व-पर भेदविज्ञानी आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि जीव को तत्त्वार्थश्रद्धान और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा भी अनिवार्यरूप से होती है।

इसप्रकार भेदविज्ञानपूर्वक निजात्मा का श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा-भक्ति को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है। **ये निश्चय-व्यवहार ह्न दोनों सम्यग्दर्शन एक साथ ही उत्पन्न होते हैं।**

कुछ लोग कहते हैं कि निश्चयसम्यग्दर्शन तो सातवें गुणस्थान में होता है। चौथे गुणस्थान में होनेवाले सम्यग्दर्शन तो व्यवहारसम्यग्दर्शन हैं। इसप्रकार उनके मत में व्यवहारसम्यग्दर्शन पहले और निश्चयसम्यग्दर्शन बाद में होता है।

उनसे हमारा कहना यह है कि सम्यग्दर्शन तो एक ही है। निश्चय

और व्यवहार तो उसके निरूपण करनेवाली पद्धतियाँ हैं। **वास्तविक सम्यग्दर्शन निश्चयसम्यग्दर्शन है और उसके साथ अनिवार्यरूप से होनेवाला व्यवहार, व्यवहारसम्यग्दर्शन है।**

जब दो सम्यग्दर्शन हैं ही नहीं तो उनकी उत्पत्ति आगे-पीछे कैसे हो सकती है ? मैं आपसे ही पूछता हूँ कि बहू के बेटा और सास के पोता एक साथ होते हैं या आगे-पीछे ?

आगे-पीछे हो ही नहीं सकते; क्योंकि बच्चा तो एक ही पैदा हुआ है और बहू के ही हुआ है, सास के तो कुछ हुआ ही नहीं है। जो बहू का बेटा है, वही सास का पोता है।

इसीप्रकार सम्यग्दर्शन तो एक ही है, स्वभाव की अपेक्षा कथन करने पर जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन कहते हैं; निमित्तादि की अपेक्षा उसी को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं।

यदि निश्चयसम्यग्दर्शन को सातवें गुणस्थान से मानेंगे तो फिर क्षायिक सम्यग्दर्शन को भी व्यवहारसम्यग्दर्शन ही मानना होगा; क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे से छठवें गुणस्थान में भी होता है। शायद, यह आपको भी स्वीकृत न होगा; क्योंकि वह क्षायिक सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के क्षय से होता है। जब मिथ्यात्व का पूर्णत: क्षय हो गया हो; तब भी निश्चयसम्यग्दर्शन न हो ह्न यह बात किसी को भी कैसे स्वीकृत हो सकती है।

अरे, भाई ! सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची श्रद्धा भी आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टियों को ही होती है। जिसने अभी देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को समझा ही नहीं है, उसे देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची श्रद्धा कैसे हो सकती है ?

सामान्यजन तो ऐसा समझते हैं कि हमें देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा नहीं होती तो हम उनके दर्शन, उनकी पूजा, उनकी सेवा-शुश्रूषा क्यों करते, कैसे करते ? अत: हमें देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची श्रद्धा तो है ही और देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची श्रद्धा है लक्षण जिसका, ऐसा व्यवहार-सम्यग्दर्शन भी है ही। अब रही बात निश्चयसम्यग्दर्शन की; सो वह तो

सातवें गुणस्थान में होता है; अत: हमें होने का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: अब अभी तो उक्त निश्चयसम्यग्दर्शन के बारे में कुछ सोचने की, समझने की जरूरत ही नहीं है।

ध्यान रहे, मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि उन्होंने जिन्हें देव-गुरु-शास्त्र माना है, वे सच्चे देव-शास्त्र-गुरु नहीं हैं। हो सकता है कि वे सच्चे ही हों; पर बात यह है कि यह अज्ञानी जगत देव-शास्त्र-गुरु के सही स्वरूप को नहीं जानता; इसकारण उन्हें सच्चे स्वरूप की कसौटी पर कसकर स्वीकार नहीं करता, अपितु बाह्य बातों के आधार पर ही मान लेता है।

जिनकी आराधना की जा रही है, उन देव-शास्त्र-गुरु के सच्चे होने पर भी उनके सही स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण आराधक की श्रद्धा सच्ची नहीं होती; इसलिए इसे व्यवहारसम्यग्दर्शन भी नहीं माना जा सकता।

बस यह तो यही कहता है कि **पिछी कमण्डलवाले तुमको लाखों प्रणाम।** इसने तो गुरु की पहिचान मात्र पीछी और कमण्डल से ही की है, शेष अंतरंग गुणों से तो इसे कुछ लेना-देना ही नहीं है। यह तो बड़े ही वीतरागभाव से कहता है कि हम साधुओं में अच्छे-बुरे का भेद नहीं करते, हम अच्छे-बुरे के झगड़े में नहीं पड़ते।

हमारे लिए तो सभी अच्छे हैं, सच्चे हैं। हम तो सभी को मानते हैं। हम किसी से राग-द्वेष नहीं रखते; हम से तो सभी अच्छे ही हैं न ?

इसतरह ये लोग अपने अज्ञान को वीतरागभाव का नाम देते हैं और सही-गलत के निर्णय करने को झगड़े में पड़ना मानते हैं।

ये लोग गुरु के समान ही देव और शास्त्र के संबंध में भी कुछ नहीं समझते। **सच्चे देव वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं और उनकी वाणी के आधार पर बने शास्त्र वीतरागता के पोषक होते हैं ह्न इस बात को समझने की बात तो बहुत दूर, सुनना भी नहीं चाहते; क्योंकि इस चर्चा को तो ये लोग झगड़ा मानकर बैठे हैं।**

ऐसे लोग रागी और वीतरागी देव में कोई अन्तर ही नहीं समझते। उन्हें तो जैसे अरिहंत-सिद्ध, वैसे क्षेत्रपाल-पद्मावती। इसीप्रकार वे लोग शास्त्रों में भी अन्तर नहीं समझते। उनके लिए तो सभी पुस्तकें शास्त्र ही हैं।

इसप्रकार उनके लिए तो **भगवान की पूजा-भक्ति की तो देव की श्रद्धा हो गई, शास्त्रों के छपाने या उनकी कीमत कम करने में कुछ पैसा दे दिया तो शास्त्र भक्ति हो गई और मुनिराज को आहारदान दे दिया तो गुरु भक्ति हो गई तथा जो लोग ऐसा नहीं करें तो वे निगुरा हो गये।**

देव-शास्त्र-गुरु का सही स्वरूप समझने के अनिच्छुक और विषय-कषाय की वांछावाले ये लोग अनध्यवसाई किस्म के लोग हैं।

निश्चयसम्यग्दर्शन सातवें गुणस्थान में नहीं, चौथे गुणस्थान में ही हो जाता है।

उत्पत्ति की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के दो भेद माने गये हैं ह्र

१. निसर्गज और २. अधिगमज।

उपदेश के निमित्त के बिना स्वभाव से ही उत्पन्न होनेवाले सम्यग्दर्शन को निसर्गज सम्यग्दर्शन और देशनालब्धिपूर्वक होनेवाले सम्यग्दर्शन को अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

उक्त कथन से ऐसा लगता है कि किसी-किसी को देशनालब्धि के बिना भी सम्यग्दर्शन हो सकता है; पर बात ऐसी नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो पंचलब्धिपूर्वक ही होती है।

बात यह है कि **जिस जीव को इसी भव में देशनालब्धि प्राप्त हुई हो, उसे प्राप्त होनेवाले सम्यग्दर्शन को अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जिसे पूर्व भवों में देशना उपलब्ध हो गई हो और वह स्मृतिज्ञान में सुरक्षित हो तथा स्मरण में आ जाय तो उन्हें वर्तमान में प्राप्त होनेवाले उपदेश के बिना भी सम्यग्दर्शन हो सकता है। इसप्रकार के सम्यग्दर्शन को निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।**

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के संदर्भ में भी स्थिति ऐसी ही है; क्योंकि जिन परिस्थितियों में जहाँ वे पैदा हुए थे, वहाँ सम्यग्दर्शन सहित पैदा होना तो संभव नहीं है। आठ वर्ष की उम्र के बाद उन्हें किसी ऐसे गुरु का सत्समागम प्राप्त नहीं हुआ कि जिसने उन्हें दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का स्वरूप समझाया हो।

अत: इस भव में स्वामीजी ने जो कुछ उपलब्ध किया, वह सब समयसार और मोक्षमार्गप्रकाशक के गहरे स्वाध्याय के बल पर ही स्वयं उपलब्ध किया है। विगतभव में सुने हुए और वर्तमान में पठित ज्ञान के आधार पर ही उन्होंने सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया।

नियमसार के अनुसार जिनसूत्र के जानकार पुरुषों के साथ-साथ जिनसूत्र (शास्त्र) भी देशनालब्धि में निमित्त होते हैं।

उक्त संदर्भ में नियमसार का निम्नांकित कथन दृष्टव्य है ह्र

''सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी।।५३।।

(हरिगीत)

जिन सूत्र समकित हेतु पर जो सूत्र के ज्ञायक पुरुष।
वे अंतरंग निमित्त हैं दृग मोह क्षय के हेतु से।।५३।।

सम्यक्त्व का निमित्त जिनसूत्र हैं और जिनसूत्र के ज्ञायक पुरुष सम्यग्दर्शन के अंतरंग हेतु कहे गये हैं; क्योंकि उनके दर्शनमोह के क्षयादिक होते हैं।''

इस गाथा की टीका करते हुए मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव जो लिखते हैं, उसका भाव इसप्रकार है ह्र

''इस सम्यक्त्व परिणाम का बाह्य सहकारीकारण वीतराग-सर्वज्ञ के मुख कमल से निकला हुआ, समस्त वस्तुओं के प्रतिपादन में समर्थ द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है और जो ज्ञानी धर्मात्मा मुमुक्षु हैं; उन्हें भी उपचार से पदार्थनिर्णय में हेतुपने के कारण अंतरंग हेतु (निमित्त) कहा है; क्योंकि उन्हें दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयादिक हैं।''

इस गाथा और इसकी टीका के भाव को आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

''जो जीव निश्चयसम्यग्दर्शन प्रकट करता है, उसको कौन निमित्त होता है ह्र इसकी पहचान इस गाथा में कराई है। **सम्यग्दर्शन में निमित्त भगवान की वाणी अथवा वाणी से रचित जिनसूत्र हैं।**[1]

जिनसूत्र के जाननेवाले पुरुष अन्तरंग निमित्त हैं। जिनसूत्र के मात्र शब्द निमित्त नहीं होते, अपितु जिनसूत्र के रहस्य को जानकर तदनुसार अन्तरंग परिणमन को प्राप्त ज्ञानी पुरुष, जिन्होंने स्वयं में सम्यग्दर्शन उपलब्ध

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४८०

कर लिया है; यद्यपि वे भी दूसरे के लिए सम्यग्दर्शन में अन्तरंग नहीं; तथापि वाणी और ज्ञानी पुरुष ह्न इन दोनों निमित्तों में भेद-प्रदर्शन के लिए वाणी को बाह्य और ज्ञानी को अन्तरंग निमित्त कहा है।

यद्यपि ज्ञानी पुरुष पर हैं, फिर भी वे क्या कहना चाहते हैं; उस आत्मिक अभिप्राय को उनके समक्ष उपस्थित धर्म प्राप्त करनेवाला जीव जब पकड़ लेता है और अभिप्राय को पकड़ से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हो जाती है, तब उस ज्ञानी पुरुष को जिससे उपदेश मिला है, अन्तरंग हेतु अथवा निमित्त कहा जाता है।[1]''

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ सम्यग्दर्शन के बाह्य सहकारी कारण (निमित्त) के रूप में वीतराग-सर्वज्ञ के मुखकमल से निकला हुआ, समस्त वस्तुओं के प्रतिपादन में समर्थ द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान को स्वीकार किया गया है और दर्शनमोहनीय के क्षयादिक के कारण ज्ञानी धर्मात्माओं को पदार्थ निर्णय में हेतुपने के कारण अंतरंगहेतु (निमित्त) उपचार से कहा गया है।

यद्यपि अन्य शास्त्रों में दर्शनमोहनीय के क्षयादिक को सम्यग्दर्शन का अंतरंग हेतु (निमित्त) और देव-शास्त्र-गुरु व उनके उपदेश को बहिरंग हेतु (निमित्त) के रूप में स्वीकार किया गया है; तथापि यहाँ ज्ञानी धर्मात्माओं को अंतरंग हेतु बताया जा रहा है।

प्रश्न ह्न दर्शनमोहनीय के क्षयादिक का उल्लेख तो यहाँ भी है।

उत्तर ह्न हाँ; है तो, पर यहाँ पर तो जिसका उपदेश निमित्त है, उस ज्ञानी के दर्शनमोहनीय के क्षयादिक की बात है और अन्य शास्त्रों में जिसे सम्यग्दर्शन हुआ है या होना है, उसके दर्शनमोह के क्षयादिक की बात है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यहाँ ज्ञानी धर्मात्माओं को उपचार से अंतरंग हेतु (निमित्त) कहा है। यद्यपि **उपचार** शब्द के प्रयोग से बात स्वयं कमजोर पड़ जाती है; तथापि जिनगुरु और जिनागम की निमित्तता के अंतर को स्पष्ट करने के लिए ज्ञानी धर्मात्माओं को अंतरंग निमित्त कहा गया है।

जिनवाणी और ज्ञानी धर्मात्माओं में यह अंतर है कि जिनवाणी को तो मात्र पढ़ा ही जा सकता है; पर ज्ञानी धर्मात्माओं से पूछा भी जा सकता है, उनसे चर्चा भी की जा सकती है। जिनवाणी में तो जो भी लिखा है, हमें उससे ही संतोष करना होगा; पर वक्ता तो हमारी पात्रता के अनुसार हमें समझाता है। वह अकेली वाणी से ही सब कुछ नहीं कहता, अपने हाव-भावों से भी बहुत कुछ स्पष्ट करता है। यही अंतर स्पष्ट करने के लिए यहाँ उक्त अन्तर रखा गया है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ ४८०-४८१

यद्यपि देव-शास्त्र-गुरु की सच्ची श्रद्धा तो सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं को ही होती है; क्योंकि देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन के स्वरूप में शामिल किया गया है; तथापि **सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के पहले भी देव-गुरु और उनकी वाणी पर कुछ न कुछ विश्वास-श्रद्धान तो होता ही है, अन्यथा उनकी बात को ध्यान से सुनेगा कौन ? विश्वास बिना आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादक शास्त्रों का स्वाध्याय करेगा कौन?**

उक्त श्रद्धा के स्वरूप को हम निम्नांकित उदाहरण से समझ सकते हैंह्न

हम रेल से यात्रा कर रहे थे कि अचानक हमारे पेट में भयंकर दर्द हुआ। हम दर्द से तड़फ रहे थे। दवा के रूप में हमारे पास जो कुछ उपलब्ध था, हमने उसका उपयोग किया; पर कोई आराम नहीं हुआ।

हमें तड़फता हुआ देखकर सामने बैठे व्यक्ति ने कहा ह्न

''मेरे पास एक दवा है, जिसकी एक खुराक लेने पर पेट का दर्द एकदम ठीक हो जाता है; आप चाहे तो मैं आपको दे सकता हूँ।''

''क्या बात करते हो, हमने तो बड़े-बड़े डॉक्टरों को दिखाया है, उनकी दवा महीनों ली है; पर इससे छुटकारा नहीं मिला। आपकी इस छोटी-सी पुड़िया से क्या होनेवाला है ?''

मेरी यह बात सुनकर वे बोले ह्न ''खाकर तो देखिये।''

पर हमने कोई ध्यान नहीं दिया और दर्द से तड़फते रहे, चीखते-चिल्लाते रहे।

उन्हें अगले ही स्टेशन पर उतरना था, सो वे उतर कर चले गये; पर उस पुड़िया को हमारे पास रखते हुए कह गये कि आप उचित समझे तो इसे ले लेना।

जब हमारी वेदना असह्य हो गई तो यह सोचकर कि खाकर तो देखे, हमने उस दवा को खा लिया।

उस दवा ने जादू जैसा असर किया और हमारा दर्द गायब हो गया।

अब हमें विश्वास हुआ, पर हमने न तो उस दवा का नाम पूछा था और न उनका पता।

अत: उनकी खोज में समाचार-पत्रों में विज्ञापन दिया, दूरदर्शन और आकाशवाणी से सूचनायें निकालीं; पर उनका कोई पता नहीं चला।

जो भी हो, हम तो यह कहना चाहते हैं कि हमें उस दवा को खाने के पहले उस पर विश्वास था या नहीं ? पूरा विश्वास होता तो उसके सामने ही खा लेते; बिल्कुल भी विश्वास न होता तो बाद में भी नहीं खाते।

अत: विश्वास और अविश्वास के बीच कुछ था, पर हम उसे विश्वास ही कहते हैं; क्योंकि विश्वास बिना खाना ही संभव न था; पर जैसा अटूट विश्वास दवा खाने के बाद आराम मिलने पर हुआ, वैसा विश्वास पहले नहीं था।

इसीप्रकार अनुभव हो जाने के बाद के विश्वास और उसके पहले के विश्वास में अन्तर तो है ही।

आत्मानुभूति के बाद के विश्वास में जो दृढ़ता है, वह दृढ़ता उसके पहले होनेवाले विश्वास में कैसे हो सकती है ? यही कारण है कि उसे सम्यक् श्रद्धान नहीं कहा जा सकता।

इसी बात को हम जरा और गहराई से समझें। हमें कोई भयंकर बीमारी है। उसके इलाज के लिए हमने योग्य डॉक्टर की खोज की, अनेक लोगों से बहुत जानकारी जुटाई, खर्चे की परवाह किये बिना सर्वश्रेष्ठ डॉक्टर के पास इलाज कराने के लिए पहुँचे। उसने अनेक प्रकार की जाँचें कराईं, उसमें भी हजारों रुपये खर्च हुए। फिर उसने दवा लिखी और कहा कि जैसी विधि हमने बताई है, उस विधि के अनुसार इस दवा को १ माह तक सुबह-शाम लीजिए। एक माह बाद दिखाने को आना।

हमने डॉक्टर से पूछा ह्न ''डॉक्टर साहब इस दवा से मेरी तबियत ठीक तो हो जायेगी।''

डॉक्टर ने कहा ह्न ''हाँ, हाँ; अवश्य हो जावेगी। चिन्ता न करें।''

फिर भी हम कहते रहे ह्न'' डॉक्टर साहब, सचमुच ठीक हो जावेगी।''

डॉक्टर साहब ने नाराज होते हुए कहा ह्न ''क्या हम पर विश्वास नहीं है ?''

हम कहने लगे ह्न ''क्या बात करते हैं, विश्वास न होता तो आपके पास आते ही क्यों ? क्या हमारे यहाँ डॉक्टर नहीं हैं ? हैं, एक से बढ़कर एक हैं; पर हम उन सबको छोड़कर आपके पास आये हैं। आप पर पूरा भरोसा है; पर.....।''

''पर क्या ?''

''दर्द बहुत है, बरदाश्त नहीं होता; इसलिए बार-बार पूछने का भाव आता है।''

हम घर आ गये, डॉक्टर के बताये अनुसार दवा ली और एक माह में एकदम सही हो गये।

अब जरा सोचिये। जैसा विश्वास अब हुआ, वैसा विश्वास उस समय था क्या ? नहीं, नहीं; क्योंकि होता तो डॉक्टर से बार-बार पूछते नहीं। और विश्वास होता ही नहीं तो उस डॉक्टर के पास जाते ही नहीं, उसके कहे अनुसार जाँचें भी नहीं कराते, दवा भी नहीं खाते; इसलिए इस विश्वास को अविश्वास नहीं कह सकते, कहेंगे तो विश्वास ही, पर आराम होने के बाद जैसा नहीं।

दोनों विश्वासों के बीच होनेवाले इस अन्तर को हमें जानना ही होगा। दवा खाने और आराम होने के पहले के विश्वास को भी साधारण मत समझिये; क्योंकि उसके भरोसे ही हम डॉक्टर से ऑपरेशन कराने को तैयार होते हैं, ऑपरेशन की टेबल पर खुशी-खुशी लेट जाते हैं और डॉक्टर को जो जैसी चीरफाड़ करनी हो, करने देते हैं। उसके आदेश का अक्षरश: पालन करते हैं; जो दवा वे देते हैं, उसे बिना मीन-मेख किये खाते हैं; जो परहेज वे बताते हैं, उसका पूरी तरह पालन करते हैं।

इतना सबकुछ बिना मजबूत विश्वास के नहीं हो सकता। उक्त विश्वास के बिना हमारा इलाज होना भी संभव नहीं है।

इसीप्रकार देशनालब्धि के पूर्व देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होनेवाले विश्वास में और आत्मानुभूति के उपरान्त होनेवाले विश्वास के अन्तर को भी पहिचानना होगा।

अनुभूति के पहले देव-शास्त्र-गुरु के प्रति होनेवाले विश्वास को अविश्वास तो कह ही नहीं सकते; साथ में उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती; क्योंकि हम उसके भरोसे ही तो सारे जगत से मुख मोड़कर, स्वयं पर समर्पित होते हैं। जिस जगत को आजतक अपना जाना, माना था, उसी में जम रहे थे; उससे मुख मोड़कर, उसे छोड़कर अपने आत्मा में अपनापन स्थापित कर लिया, उस पर ही पूर्णत: समर्पित हो गये ह्र यह सब कमाल उसी का फल है। अत: उसकी उपेक्षा करना भी समझदारी का काम नहीं।

आगम के अध्ययन, सद्गुरु के उपदेश और तर्क की कसौटी पर कसने के उपरान्त आत्मा-परमात्मा, सात तत्त्व और देव-शास्त्र-गुरु पर जो विश्वास हमें होता है अर्थात् देशनालब्धि से हमें जो विश्वास उत्पन्न होता है; उसके बल पर ही प्रायोग्यलब्धि में प्रवेश होता है, करणलब्धि का प्रारंभ होता है। इसके बिना प्रायोग्य और करणलब्धि में प्रवेश-प्रारंभ संभव नहीं है।

इसीप्रकार देव-शास्त्र-गुरु पर विश्वास बिना आगम का सेवन और गुरूपदेश का श्रवण भी कैसे होगा ?

तात्पर्य यह है कि सम्यक् विश्वास-श्रद्धान होने के पहले भी जो विश्वास और श्रद्धान होता है; उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है, संभव भी नहीं है; पर आगमादि के आधार पर होनेवाले विश्वास-श्रद्धान और आत्मानुभूति के उपरान्त होनेवाले विश्वास-श्रद्धान में जो महान अन्तर है, वह तो है ही; उसकी उपेक्षा करना भी ठीक नहीं है।

आप सब अपना काम-धाम छोड़कर यहाँ आ गये हैं, भगवान की पूजा-भक्ति कर रहे हैं, हमारा प्रवचन सुन रहे हैं; क्या यह सब बिना विश्वास के हो रहा है ? इसे हम अश्रद्धा तो नहीं कह सकते; पर जब

आपको आत्मानुभूति हो जावेगी और तब आपको हमारी बात पर भी जैसा विश्वास होगा, वैसा आज नहीं हो सकता।

सारा जगत आत्मानुभूति से पहले होनेवाले इस विश्वास को ही व्यवहारसम्यग्दर्शन मानता है; इसी वजह से यह कहता है कि व्यवहार-सम्यग्दर्शन पहले होता है और निश्चयसम्यग्दर्शन बाद में।

वस्तुत: बात यह है कि जबतक सम्यग्दर्शन की घातक मिथ्यात्वादि प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम या उपशम नहीं होता; तबतक सम्यग्दर्शन हो ही नहीं सकता। करणानुयोग के इस कथन की उपेक्षा करना ठीक नहीं है, संभव भी नहीं है।

मिथ्यात्व की भूमिका में होनेवाले उक्त श्रद्धान-ज्ञान को व्यवहार से ही सही, पर सम्यग्दर्शन कैसे कहा जा सकता है ?

वस्तुत: बात यह है कि मिथ्यात्व की भूमिका में आगम और गुरूपदेश के आधार पर होनेवाला श्रद्धान-ज्ञान सही तो है, पर सम्यक् नहीं; क्योंकि उसकी सत्यता का आधार तो दिव्यध्वनि के आधार पर रचा गया आगम और ज्ञानी गुरु का ज्ञान है; पर सम्यक्पना का अभाव सम्यक्त्व के सन्मुखमिथ्यादृष्टि में विद्यमान मिथ्यात्व के कारण है।

जिसप्रकार प्रमाण-पत्र की प्रतिलिपि सही तो है, पर जबतक उसे राजपत्रित अधिकारी प्रमाणित नहीं कर देता; तबतक कार्यकारी नहीं है। उसीप्रकार निश्चयसम्यग्दर्शन के पहले होनेवाला व्यवहार सम्यग्दृष्टियों के समान होने पर भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि उसमें सम्यक्पना निश्चय-सम्यग्दर्शन होने पर ही आयेगा।

मैं आपसे एक प्रश्न पूछता हूँ कि जिस लड़के से आपने अपनी लड़की की सगाई कर दी, पर अभी शादी नहीं हुई; ऐसी स्थिति में वह लड़का आपका जमाई है या नहीं, आपकी लड़की का पति है या नहीं ?

अरे, भाई ! वह लड़का आपकी लड़की का पति कहा जाने पर भी अभी वह पति जैसा व्यवहार नहीं कर सकता। उसीप्रकार यद्यपि **करणलब्धिवाला अंतर्मुहूर्त में नियम से सम्यग्द्दष्टि होनेवाला है; तथापि उसे अभी सम्यग्दृष्टि नहीं माना जा सकता। अभी तो वह पहले गुणस्थान में ही है।**

यद्यपि वह अभी अपनी लड़की का पति नहीं है; अत: उनमें परस्पर पति-पत्नी का व्यवहार भी संभव नहीं है; तथापि हम उसका जमाई जैसा ही सम्मान करते हैं, उससे जमाई जैसा ही व्यवहार करते हैं; पर वह व्यवहार वास्तविक व्यवहार नहीं है, वास्तविक व्यवहार तो तभी होगा, जब हमारी लड़की के साथ उसके सात फेरे पड़ जावेंगे। छठवें फेरे तक जो व्यवहार है, वह एक प्रकार से ऊपरी-ऊपरी ही है, व्यवहाराभास है; पर नासमझ लोग उसे व्यवहार ही समझते हैं।

इसीप्रकार यद्यपि आत्मानुभूतिपूर्वक समयग्दर्शन की उपलब्धि होने के पूर्व देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा-भक्ति का व्यवहार देखा जाता है, पर वह वास्तविक व्यवहारसम्यग्दर्शन नहीं है। **वास्तविक व्यवहारसम्यग्दर्शन तो निश्चयसम्यग्दर्शन के होने के साथ ही प्रगट होता है।**

माँ के बेटा पैदा हुए बिना दादी का पोता कैसे हो सकता है ? उसीप्रकार निश्चयसम्यग्दर्शन के बिना व्यवहारसम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है ?

यह संक्षेप में सम्यग्दर्शन की बात हुई; अब सम्यग्ज्ञान की बात करते हैं। उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह्न

''तथा ऐसा सम्यक्त्वी होने पर जो ज्ञान पंचेन्द्रिय व छट्ठे मन के द्वारा क्षयोपशमरूप मिथ्यात्वदशा में कुमति-कुश्रुतिरूप हो रहा था, वही ज्ञान अब मति-श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान हुआ। सम्यक्त्वी जितना कुछ जाने वह जानना सर्व सम्यग्ज्ञानरूप है।

यदि कदाचित् घट-पटादिक पदार्थों को अयथार्थ भी जाने तो वह आवरणजनित औदयिक अज्ञानभाव है। जो क्षयोपशमरूप प्रगट ज्ञान है, वह तो सर्व सम्यग्ज्ञान ही है; क्योंकि जानने में विपरीतरूप पदार्थों को नहीं साधता। सो यह सम्यग्ज्ञान केवलज्ञान का अंश है; जैसे थोड़ा-सा मेघपटल विलय होने पर कुछ प्रकाश प्रगट होता है, वह सर्व प्रकाश का अंश है।

जो ज्ञान मति-श्रुतरूप हो प्रवर्त्तता है, वही ज्ञान बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञानरूप होता है; सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा तो जाति एक है।''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४२

यद्यपि मिथ्यात्व अवस्था में देव-गुरु के उपदेश एवं जिनवाणी के स्वाध्याय के माध्यम से जो तत्त्वज्ञान होता है, स्व-पर भेदविज्ञान होता है, त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का स्वरूप समझ में आता है; वह सब **परम सत्य होने पर भी जबतक आत्मानुभूतिपूर्वक सम्यग्दर्शन नहीं हो जाता, तबतक सम्यग्ज्ञान नाम नहीं पाता;** क्योंकि ज्ञान का सम्यक्पना सम्यग्दर्शन के आधार पर सुनिश्चित होता है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि का सम्पूर्ण ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और मिथ्यादृष्टि का सम्पूर्ण ज्ञान मिथ्याज्ञान है। इसप्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान का सम्यक्पना सत्यता के आधार पर नहीं, सम्यग्दर्शन के आधार पर है।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि जिसप्रकार पागल माता को माता कहे, तब भी उसका ज्ञान सम्यक् नहीं; क्योंकि वह माता का स्वरूप नहीं जानता। इसीप्रकार वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ होने से मिथ्यादृष्टि का आत्मा को आत्मा और पर को पर कहनेवाला ज्ञान भी मिथ्या ही है।[१]

अप्रयोजनभूत लौकिक वस्तुओं के बारे में ज्ञानी जीव भले ही असत्य जाने, पर ज्ञानी के तत्संबंधी ज्ञान को औदयिक अज्ञान तो कह सकते हैं, पर क्षायोपशमिक अज्ञान नहीं; क्योंकि क्षायोपशमिक अज्ञान तो मिथ्याज्ञान का नाम है। सम्यग्दृष्टि का सभी क्षायोपशमिक ज्ञान सम्यग्ज्ञान ही है।

पण्डितजी तो यहाँ तक कहते हैं कि **वह केवलज्ञान का अंश है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि के मति-श्रुतज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान की और केवलज्ञानी के केवलज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान की जाति एक है।**

इसके बाद पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह्न

''तथा इस सम्यक्त्वी के परिणाम सविकल्प तथा निर्विकल्परूप होकर दो प्रकार प्रवर्त्तते हैं। वहाँ जो परिणाम विषय-कषायादिरूप व पूजा, दान, शास्त्राभ्यासादिकरूप प्रवर्त्तता है, उसे सविकल्प जानना।

यहाँ प्रश्न ह्न शुभाशुभरूप परिणमित होते हुए सम्यक्त्व का अस्तित्व कैसे पाया जाय ?

१. आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ३२

समाधान ह्न जैसे कोई गुमाश्ता सेठ के कार्य में प्रवर्त्तता है, उस कार्य को अपना भी कहता है, हर्ष–विषाद को भी प्राप्त होता है, उस कार्य में प्रवर्त्तते हुए अपनी और सेठ की जुदाई का विचाार नहीं करता; परन्तु अंतरंग श्रद्धान ऐसा है कि यह मेरा कार्य नहीं है।

ऐसा कार्य करता गुमाश्ता साहूकार है। यदि वह सेठ के धन को चुराकर अपना माने तो गुमाश्ता चोर होय।

उसीप्रकार कर्मोदयजनित शुभाशुभरूप कार्य को करता हुआ तद्रूप परिणमित हो; तथापि अंतरंग में ऐसा श्रद्धान है कि यह कार्य मेरा नहीं है। यदि शरीराश्रित व्रत–संयम को भी अपना माने तो मिथ्यादृष्टि होय। सो ऐसे सविकल्प परिणाम होते हैं।[१]''

सविकल्प परिणामों के संदर्भ में पण्डितजी का कहना है कि **शुभाशुभ भावों में प्रवृत्ति ही सविकल्प परिणाम है और शुद्धोपयोगरूपदशा ही निर्विकल्प परिणाम हैं।**

पण्डितजी के उक्त कथन में अत्यन्त स्पष्टरूप से कहा गया है कि जो परिणाम विषय-कषायादिरूप हों या पूजा, दान, शास्त्राभ्यासरूप हों; वे सभी परिणाम सविकल्प परिणाम हैं।

सम्यग्दृष्टि जीवों के चौथे गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान तक ये सविकल्प परिणाम पाये जाते हैं। इन सविकल्प परिणामों अर्थात् शुभाशुभभावों के काल में सम्यग्दर्शन का अस्तित्व कैसे रहता है ह्न इस बात को स्पष्ट करने के लिए पण्डितजी मुनीम का उदाहरण देते हैं।

मुनीम का अर्थ यहाँ मात्र हिसाब–किताब लिखनेवाला क्लर्क नहीं है, अपितु मैनेजर है; क्योंकि उस जमाने में सेठ लोग अनेक गाँवों में अपनी दुकानें या व्यापारिक कार्यालय खोल देते थे। एक व्यक्ति को उसका सम्पूर्ण भार संभला देते थे। वह एकप्रकार से वर्किंग पार्टनर होता था और दैनंदिन कार्य संबंधी सभी निर्णय लेने का अधिकार उसे रहता था। उसके आधीन अनेक कर्मचारी रहते थे। उसका सम्पूर्ण व्यवहार सेठ जैसा ही रहता था।

जिस गुमाश्ता (मुनीम) का उदाहरण पण्डितजी ने दिया है; उसका

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४२

स्वरूप उन्होंने स्वयं ही स्पष्ट किया है। वे लिखते हैं कि जो सेठ की ओर से सेठ का कार्य करता हुआ, उस कार्य को अपना कार्य कहता है, लाभ–हानि होने पर हर्ष–विषाद को भी प्राप्त होता है, उस कार्य को करते समय स्वयं और सेठ के बीच की भिन्नता का विचार भी नहीं करता, पूरे अधिकार से बात करता है; पर उसके अंतरंग में श्रद्धा के स्तर पर ऐसा ज्ञान वर्तता रहता है कि यह सबकुछ मेरा नहीं है।

पण्डितजी कहते हैं कि ऐसी परिणतिवाला गुमाश्ता साहूकार है।

यहाँ गुमाश्ता साहूकार का अर्थ मुनीम और सेठ नहीं है, अपितु साहूकार गुमाश्ता अर्थात् ईमानदार विश्वसनीय मुनीम है। पण्डितजी कहते हैं कि यदि वह जैसा बोल रहा है; उसीप्रकार सचमुच मान ले तो वह साहूकार नहीं, चोर है। तात्पर्य यह है कि वह गुमाश्ता साहूकार नहीं है अर्थात् ईमानदार मुनीम नहीं है।

इसीप्रकार विषय-कषाय और शुभभावों में वर्तता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव उस समय उन भावोंरूप ही परिणमित होता है और तदनुसार भूमिकानुसार पाप-पुण्य का बंध भी करता है; तथापि उसकी श्रद्धा निरंतर ऐसी ही बनी रहती है कि यह मेरा कार्य नहीं है; क्योंकि यदि वह शरीराश्रित उपवासादि और उपदेशादि को भी अपना कार्य माने तो सम्यग्दर्शन कायम नहीं रह सकता।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि जीवों के शुभाशुभभावों के काल में भी सम्यग्दर्शन कायम रहता है।

'सविकल्प अवस्था में, विशेष कर युद्ध और भोग के काल में सम्यग्दर्शन कैसे कायम रहता है ?' ह्न ऐसा प्रश्न खड़ा ही क्यों हो रहा है ?

अरे, भाई ! बात यह है कि जगतजनों को सम्यग्दृष्टि भी विषय-भोगों में और युद्धादि में मिथ्यादृष्टियों के समान ही उलझे दिखाई देते हैं। उसने शास्त्रों में जो सम्यग्दृष्टि ज्ञानियों के चरित्र पढ़े हैं; उनमें भी यही देखा है कि सम्यग्दृष्टि लोग भी भोगों में रत हैं, लड़ रहे हैं, झगड़ रहे हैं। अत: यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है।

अज्ञानीजन आत्मानुभूति और सम्यग्दर्शन को एक ही समझते हैं; इसकारण भी ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है।

यद्यपि यह परम सत्य है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति आत्मानुभूति के काल में ही होती है; तथापि यह आवश्यक नहीं है कि अनुभूति के बिना सम्यग्दर्शन का अस्तित्व ही न रहे।

आत्मानुभूति के समय सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाने के बाद उपयोग आत्मा से बाहर आ जाता है, शुभभावों में चला जाता है, कालान्तर में अशुभभावों में भी चला जाता है, भोगों में चला जाता है, युद्ध में भी जा सकता है; चक्रवर्ती भरत एवं रामचन्द्र आदि के चरित्रों में यह सब मिलता भी है।

ऐसे समय में शुद्धोपयोगरूप आत्मानुभूति नहीं रहती; पर सम्यग्दर्शन कायम रहता है; क्योंकि सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की पर्याय है और **आत्मानुभूति ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, वीर्य आदि अनेक गुणों का परिणमन है।**

वस्तुतः बात यह है कि न मालूम हमारे चित्त में यह कहाँ से समा गया है कि आत्मानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान का अस्तित्व ही संभव नहीं है। करणानुयोग के अनुसार चौथे गुणस्थान में होनेवाले बंध-अबंध, बंधव्युच्छत्ति, संवर, निर्जरा की जो चर्चा है; वह सम्यग्दर्शन के आधार पर है, अनुभूति के आधार पर नहीं। **चौथे गुणस्थान की भूमिका का सही स्वरूप ख्याल में नहीं होने से भी यह प्रश्न उपस्थित होता है। श्रद्धा और चारित्र के भेद को भलीभाँति न समझने के कारण भी इसप्रकार के विकल्प खड़े होते हैं।**

इसीप्रकार हमें आत्मानुभूति और सम्यग्दर्शन की इतनी महिमा आ गई है कि जिसके आश्रय से अनुभूति होती है, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है; जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन, जिसे निज रूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और जिसमें रमने का नाम सम्यक्-चारित्र है; वह त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा भी हमारी दृष्टि से ओझल हो रहा है। **सर्वाधिक महिमावंत परमपदार्थ तो दृष्टि का विषयभूत, परमशुद्धनिश्चयनय का विषय और ध्यान का ध्येयरूप निज त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही है। अतः हमें उसी की शरण में जाना चाहिए।** ●

> यह आत्मा अनन्तसुख जैसे अनन्त गुणों का धनी होकर भी अपरिचय एवं असेवन के कारण रंचमात्र सुख-लाभ प्राप्त नहीं कर पा रहा है। **ह्र परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ २१०**

चौथा प्रवचन

संतप्त मानस शांत हों, जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में।।

आत्मानुभूति और सम्यग्दर्शन को लोगों ने एक ही समझ लिया है; पर यह समझ सही नहीं है; क्योंकि शुभाशुभभाव और शुभाशुभपरिणति के काल में भी सम्यग्दर्शन कायम रहता है।

यद्यपि यह परम सत्य है कि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति आत्मानुभूति के काल में ही होती है; तथापि सम्यग्दर्शन की सत्ता के लिए आत्मानुभूति आवश्यक नहीं है।

जिसने अभी आत्मा का अनुभव किया है, उस व्यक्ति का उपयोग आत्मा से हटकर बाह्य विषयों में, भोगों में, युद्धादि में, उपदेशादि में भी लग जावे; तब भी उसे सम्यग्दर्शन कायम रहता है; क्योंकि सम्यग्दर्शन तो श्रद्धागुण की पर्याय है और वह **सम्यग्दर्शन त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा में अपनापन हो जाने रूप है।**

तात्पर्य यह है कि आत्मानुभूति के काल में ज्ञान ने जिसे निजरूप जाना था, श्रद्धा गुण ने जिस आत्मा में अपनापन स्थापित कर लिया था और जो उस समय ध्यान का ध्येय बना था; उस **निजात्मा में दृढ़ता से स्थापित अपनेपन का नाम ही सम्यग्दर्शन है।**

यद्यपि यह बात विगत प्रवचन में स्पष्ट की जा चुकी है; तथापि इसके संबंध में गंभीर मंथन अपेक्षित है; क्योंकि उक्त संदर्भ में विद्यमान अज्ञान की जड़ें बहुत गहरी हैं।

सम्यग्दृष्टि की सविकल्प अवस्था में जहाँ एक ओर शुभाशुभभाव और शुभाशुभपरिणति दिखाई देती है; वहीं दूसरी ओर अन्तर में मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय के अभावरूप शुद्धपरिणति भी तो विद्यमान रहती है।

यद्यपि यह सत्य है कि सविकल्प अवस्था में शुभाशुभ परिणामों के अनुसार बंध होता है; तथापि यह भी सत्य है कि मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय के अभावपूर्वक होनेवाली परिणति की शुद्धि के

कारण मिथ्यात्वादि ४१ प्रकृतियों के बंध के अभावरूप संवर व यथायोग्य निर्जरा भी निरंतर होती रहती है।

सविकल्प अवस्था में या शुभाशुभभावों के काल में जो संवर-निर्जरा होते हैं, वे शुभाशुभभावों या शुभाशुभक्रिया से नहीं; अपितु उक्त शुद्धपरिणतिरूप अनुभव के कारण होते हैं; क्योंकि शुभाशुभभाव तो बंध के ही कारण हैं और शुभाशुभरूप शरीर की क्रिया, जड़ की क्रिया होने से न बंध का कारण है और न संवर-निर्जरा का ही कारण है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनुभव दो प्रकार का है। एक शुद्धोपयोगरूप या आत्मानुभूतिरूप अनुभव और दूसरा लब्धिज्ञान और शुद्धपरिणतिरूप अनुभव।

दो प्रकार के अनुभव की चर्चा पहले प्रवचन में विस्तार से की जा चुकी है। अत: उसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है।

निचली अवस्था में आत्मानुभूतिरूप अनुभव तो निरंतर नहीं रहता, भूमिकानुसार कभी-कभी ही होता है; पर शुद्धपरिणतिरूप लब्धिरूप अनुभव तो सदा विद्यमान रहता ही है। **भले ही ज्ञान के उपयोग में आत्मा कभी-कभी ज्ञेय बनता हो; तथापि लब्धिज्ञान में तो वह ज्ञानियों के सदा रहता ही है।**

इसप्रकार श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र में आत्मा ज्ञानी जीवों को सदा प्रगट ही रहता है। **लब्धिज्ञान और शुद्धपरिणति भी प्रगट पर्यायरूप ही हैं, शक्तिरूप नहीं।**

हमारे जीवन में एक बार यह निर्णय हो गया कि ये मेरे पिताजी हैं; ये मेरी माँ है, ये मेरे भाई हैं तो फिर रोजाना इस बात को रटना नहीं पड़ता, सोचना नहीं पड़ता; यह सब बातें सदा ज्ञान-श्रद्धान में कायम ही रहती हैं; उसीप्रकार **यह भगवान आत्मा भी एक बार अनुभूतिपूर्वक ज्ञान-श्रद्धान में आ जाता है तो फिर सोचे बिना ही वह श्रद्धा-ज्ञान में निरंतर रहता ही है।**

एक बार अनुभव में आ जाने की तो बात ही क्या करना; देव-शास्त्र-गुरु के कथनानुसार भी जब एक बार निर्णय हो जाता है; तब भी तो यह बात हमारे घोलन का विषय बन जाती है। इसी के आधार पर

प्रायोग्यलब्धि में विशेष आत्मरस का परिपाक होता है, इसी के बल पर करणलब्धि में प्रवेश होता है और अन्त में इसी के आधार पर आत्मानुभूति होती है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति होती है।

अभी-अभी जो दो प्रकार के अनुभव की बात की थी; वह सम्यग्दृष्टि जीव की बात थी। अब जो बात कह रहे हैं; वह सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि की बात है।

दिव्यध्वनि सुनकर, उसके मर्म को उद्घाटित करनेवाले शास्त्रों को पढ़कर, ज्ञानी गुरुओं के माध्यम से जानकर जो तत्त्वज्ञान होता है, आत्मज्ञान होता है; देशनालब्धि के आधार पर जो तत्त्वज्ञान-आत्मज्ञान होता है; उसमें भी तो भव्यजीवों की अटूट आस्था होती है, होनी चाहिए; अन्यथा उसके आधार पर आगे कैसे बढ़ा जायेगा ?

मैं भारिल्ल हूँ, आप कासलीवाल हैं, पाटनी हैं, गोधा हैं, गोदीका हैं; यह सब भी तो हमने अपने पूर्वजों से जाना है। उनके कथन में हमें पूरा विश्वास है और उसी के आधार पर हमारा सम्पूर्ण लौकिक व्यवहार चलता है।

जिसप्रकार लौकिक प्रकरणों में हमारे पारिवारिक पूर्वजों की बात प्रामाणिक मानी जाती है; उसीप्रकार धार्मिक प्रकरण में हमारे धर्म पूर्वज प्रामाणिक हैं; देव-शास्त्र-गुरु प्रामाणिक हैं। तात्पर्य यह है कि **देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि ने जो आत्मा का स्वरूप समझा है, वह भी प्रामाणिक है, सही है। बस बात मात्र इतनी ही है कि सम्यग्दर्शन होने के बाद के ज्ञान-श्रद्धान में जो बात है, वह इसमें नहीं है। सत्य होने पर जैसा सम्यक्पना उसमें है, वैसा इसमें नहीं है।**

अरे, भाई ! राजमार्ग तो यही है; अत: इसमें से तो गुजरना ही होगा।

बहुत से लोग जिनवाणी के कथनों में शंका-आशंका व्यक्त करते हैं, उसके कथनों की उपेक्षा करते हैं; इसकारण उसके अध्ययन से होनेवाले लाभ से वंचित रहते हैं।

अरे, भाई ! इस पंचमकाल में तो मुख्यरूप से जिनवाणी ही एक मात्र शरण है। उसकी उपेक्षा, उस पर आशंका हमें कहीं का नहीं छोड़ेगी।

लोग शिकायत करते हैं कि हमारे बहुत से शास्त्रों को विरोधियों ने जला दिया, बर्बाद कर दिया।

कर दिया होगा, पर हमारा कहना यह है कि हमारी ओर से की गई जिनवाणी की उपेक्षा ने ही हमें उससे विलग किया है।

आज हमारे बड़े-बड़े विद्वान बड़े गौरव से कहते हैं कि हमारे तीन-तीन तीर्थंकर ऐतिहासिक सिद्ध हो गये हैं। शेष तीर्थंकर तो पौराणिक हैं।

इस बात को इसप्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि जैसे इतिहास से सिद्ध हो जाना तो प्रामाणिक है और पौराणिक माने पुराणों में लिखा है; उनका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है।

तात्पर्य यह है कि इतिहास प्रमाण है, पुराण प्रमाण नहीं है।

इतिहास जिन लोगों ने लिखा क्या वे सप्त व्यसनों से अछूते थे ? जिन शिलालेखों के आधार पर उन्होंने इतिहास रचा है; वे शिलालेख लिखने-लिखानेवाले राजा-महाराजा भी कैसे क्या थे ? हम सभी जानते हैं।

उक्त शिलालेखों के आधार पर असदाचारी लोगों द्वारा लिखा गया इतिहास उन्हें प्रमाण लगता है और जीवन भर झूठ न बोलने का सत्य महाव्रत धारण करनेवाले हित-मित-प्रियभाषी सन्तों द्वारा लिखे गये पुराण (प्रथमानुयोग) अप्रमाण हो गये, संदिग्ध हो गये।

जिनवाणी के प्रति हमारी यह अनास्था ही जिनवाणी की उपेक्षा है। कलियुग की एकमात्र शरणभूत जिनवाणी माता के प्रति व्यक्त की गई यह अनास्था हमें कहीं का भी नहीं छोड़ेगी।

जिनवाणी माता को खतरा हमारी उपेक्षा से है, हमारी अश्रद्धा से है, हमारे अविश्वास से है; किसी दूसरे से नहीं।

अन्दर-बाहर के विरोधी कितने शास्त्र जलायेंगे ? आप कह सकते हैं कि दक्षिण भारत में हमारे शास्त्रों की होलियाँ जलाई गईं, उत्तर भारत में भी कहीं-कहीं इसप्रकार के कुकृत्य हमारे ही भाइयों द्वारा हो रहे हैं। किस-किस की बात करें ?

अरे, भाई ! इन कुकृत्यों से क्या हम शास्त्रविहीन हो गये ?

नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि आज तो जिनवाणी माता घर-घर में पहुँच गई है और निरंतर पहुँच रही है।

दूसरे के मारने से कोई नहीं मरता। शेरों की सुरक्षा की जा रही है; पर उनकी नस्ल समाप्ति की ओर है; गाय माता असुरक्षित है, सभी उसके पीछे पड़े हैं, सरकार कत्लखाने खुलवा रही है; पर उसकी नस्ल समाप्त होने का कोई खतरा नहीं है।

शेर हमारे किसी काम का नहीं है, मात्र चिड़ियाघरों की शोभा है; पर गाय हमारे जीवन का मूल आधार है। जबतक उसकी उपयोगिता है, उपयोग होता रहेगा; तबतक वह कायम रहेगी।

इसीप्रकार जबतक आत्मार्थीजन जिनवाणी का उपयोग करते रहेंगे; तबतक उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता। जब उसका उपयोग बन्द हो जायेगा, स्वाध्याय करनेवाले लोग नहीं रहेंगे, उसका पठन-पाठन नहीं होगा; तब उसे कोई नहीं बचा पायेगा। उसके पठन-पाठन की परम्परा चालू रहना ही उसका वास्तविक जीवन है। जब उसे पढ़ने-पढ़ानेवाले ही न रहेंगे तो फिर वह सुरक्षित रहकर भी असुरक्षित है। यही कारण है कि स्वाध्याय को परमतप कहा गया है, साधुओं और श्रावकों के आवश्यक दैनिक कार्यों में उसे स्थान प्राप्त है।

न केवल जिनवाणी की सुरक्षा के लिए, अपितु अपने आत्मा के कल्याण की भावना से जिनवाणी का स्वाध्याय किया जाना चाहिए, उसका पठन-पाठन चालू रहना चाहिए। यदि **हम आत्मकल्याण की भावना से जिनवाणी का स्वाध्याय करेंगे, पठन-पाठन चालू रखेंगे तो वह भी सुरक्षित रहेगी।**

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि अभी अरहंत भगवान तो इस क्षेत्र में हैं नहीं, शास्त्रों में भी अनेक प्रकार की बातें मिलती हैं और गुरु भी अनेक हैं, अनेक प्रकार के हैं तथा अनेक प्रकार की बातें करते हैं। ऐसी स्थिति में समझ में ही नहीं आता कि क्या पढ़ें, किसे सुने; किसकी बात सही माने?

अरे, भाई ! यह समस्या तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में है; फिर भी हम अपने विवेक से किसी न किसी निर्णय पर पहुँचते ही हैं।

कपड़ा खरीदना हो, सब्जी खरीदनी हो तो अनेक प्रकार के कपड़े व सब्जियाँ उपलब्ध होने पर भी अपने योग्य सामान खरीदते ही हैं; क्योंकि नंगे-भूखे रहना तो संभव है नहीं।

इसीप्रकार आत्मकल्याण के कार्य के लिए स्वाध्याय और सत्समागम भी यथासंभव विवेक पूर्वक किया जाना चाहिए।

शास्त्रों के संबंध में एक समस्या तो है। प्रथमानुयोग के जितने शास्त्र हैं, वे सभी लगभग इस शैली में आरंभ होते हैं कि एक बार भगवान महावीर का समवशरण विपुलाचल पर्वत पर आया। राजा श्रेणिक उनके दर्शनार्थ पधारे। उन्होंने प्रश्न किया और उसके उत्तर में भगवान महावीर ने या गौतम गणधर ने यह कहानी सुनाई। इससे लगता है कि यह सब भगवान महावीर की वाणी में आई बात है। **पर द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग के शास्त्र इसप्रकार आरंभ नहीं होते। इसकारण हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यह सभी तत्त्वज्ञान महावीर की दिव्यध्वनि में समागत वस्तुस्वरूप है।**

मध्ययुग में हिन्दी भाषा में कुछ कथा साहित्य प्रथमानुयोग की उक्त शैली में तैयार हुआ; जिसकी कथावस्तु लगभग ऐसी है कि जिसमें कहा जाता है कि एक लड़की ने मुनिराज की उपेक्षा की; इसप्रकार वह नरक में गई।

फिर दो-चार बार ऐसा होता है कि वह नरक से निकल कर कुरूप, रोगी और नीच कुल में पैदा हुई, फिर मरकर नरक में गई। फिर वह किसी भव में प्रायश्चित्त करती है, मुनिराजों का सम्मान करती है, फलस्वरूप स्वर्ग में जाती है, फिर राजा के यहाँ सुन्दर कन्या होती है। दो-चार बार ऐसा होता है और फिर पुरुष पर्याय पाकर वह मोक्ष चली जाती है।

यह सबकुछ महिलाओं के साथ ही हुआ, पुरुषों के साथ नहीं; क्योंकि धर्मभीरु महिलायें ऐसी बातों पर जल्दी विश्वास करती हैं, डरती भी बहुत हैं और आहारादि की व्यवस्था भी मुख्यरूप से वे ही करती हैं।

शिथिलाचार के विरुद्ध उठ रही आवाजों को दबाने की भावना से यह सब लिखा गया लगता है। यह सब साहित्य भगवान महावीर की वाणी बन बैठा और **समयसारादि शास्त्र उपेक्षित हो गये; क्योंकि उनके आरंभ में ऐसा कुछ नहीं लिखा गया था।**

जो भी हुआ हो, पर यदि हमें आत्मकल्याण करना है तो उपलब्ध जैन साहित्य में से वीतरागता के पोषक तत्त्वनिरूपक शास्त्रों को चुनकर उनका स्वाध्याय करके आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करना होगा।

हम इस बात को गहराई से समझे कि जैनदर्शन वीतरागी दर्शन है, वह वीतरागता को ही धर्म घोषित करता है। राग-द्वेष और अज्ञान तो स्पष्टरूप से अधर्म हैं। यह हम सभी लोग जानते हैं; क्योंकि हमारी परम्परा में यह सब चला आ रहा है।

हम पत्र लिखते हैं, शादी का कार्ड छपाते हैं तो सबसे ऊपर **श्री वीतरागाय नम:** लिखते हैं, घर के दरवाजे पर **श्री वीतरागाय नम:** लिखते हैं, रोकड़-बही खाता-बही में भी सबसे ऊपर **श्री वीतरागाय नम:** लिखते हैं। अत: वीतरागता ही धर्म है, राग-द्वेष-मोह धर्म नहीं ह्न यह तो हम सब भलीभाँति जानते ही हैं।

अत: देव-शास्त्र-गुरु के संदर्भ में भी इसी आधार पर सही-गलत का निर्णय करना चाहिए। इसीलिए तो मैंने लिखा है ह्न

वीतरागता की पोषक ही जिनवाणी कहलाती है।
यह है मुक्ति का मार्ग निरन्तर हमको जो दिखलाती है।।
उसी वाणी के अंतर्तम को जिन गुरुओं ने पहिचाना है।
उन गुरुवर्यो के चरणों में मस्तक बस हमें झुकाना है।।[१]

जो वीतरागता का पोषण करें, वे शास्त्र ही सच्चे शास्त्र हैं। **शास्त्र के समान ही गुरु भी वही सही है, जो वीतरागता में धर्म बतायें।** राग-द्वेष में धर्म बतानेवाले गुरु सच्चे नहीं हो सकते।

हमें शास्त्रों को पढ़कर, गुरुओं के माध्यम से क्या समझना चाहिए ह्न इस संदर्भ में मार्गदर्शन करते हुए पण्डित टोडरमलजी एक पाठ्यक्रम प्रस्तुत करते हैं, जो इसप्रकार है ह्न

''वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्ग के, देव-गुरु-धर्मादिक के, जीवादितत्त्वों के तथा निज-पर के और अपने को अहितकारी-हितकारी भावों के ह्न इत्यादि के उपदेश से सावधान होकर ऐसा विचार किया

१. देव-शास्त्र-गुरु पूजन जयमाला

कि अहो ! मुझे तो इन बातों की खबर ही नहीं, मैं भ्रम से भूलकर प्राप्त पर्याय में ही तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्याय की तो थोड़े ही काल की स्थिति है; तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिए मुझे इन बातों को बराबर समझना चाहिए, क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है। ऐसा विचारकर जो उपदेश सुना उसके निर्धार करने का उद्यम किया।[१]''

मोक्षमार्ग, देव-गुरु-धर्म, जीवादि प्रयोजनभूततत्त्व, स्व और पर का भेद जाननेरूप भेदविज्ञान और अपने हितकारी भाव और अहितकारी भाव; आत्मकल्याण के लिए बस इतना जानना ही पर्याप्त है।

अत: जिन शास्त्रों में उक्त विषय समझाये गये हों, वे शास्त्र ही मुख्यरूप से स्वाध्याय करने योग्य हैं तथा गुरुओं से भी उक्त बातों को समझने का आग्रह रखना चाहिए, विनयपूर्वक निवेदन करना चाहिए।

पर इस बात का ध्यान रहे कि जिनवाणी के प्रति अश्रद्धा के साथ किया गया स्वाध्याय आत्मकल्याण के लिए रंचमात्र भी कार्यकारी नहीं होता। पण्डितजी तो कहते हैं कि जिनागम में वर्णित वस्तुस्वरूप को सुनकर या पढ़कर हमें इसप्रकार के अहो भाव जागृत होना चाहिए कि हमें तो इन बातों का पता ही नहीं था, हम तो प्राप्त पर्याय में ही तन्मय थे, पर इस पर्याय की स्थिति तो बहुत थोड़े काल की है। आज हमें इस बात को समझने की पूरी अनुकूलता है, अत: हमें इन बातों को गहराई से समझने का प्रयास करना चाहिए; क्योंकि इनके समझने में ही हमारा भला है।

यदि इसप्रकार के भाव जागृत होते हैं तो समझना चाहिए कि हम सही मार्ग पर हैं; क्योंकि **शंका-आशंका से आरंभ किया गया अध्ययन लाभकारी नहीं होता।**

जिनवाणी में लिखा है कि आत्मा अनादि-अनन्त है, असंख्यातप्रदेशी है, अनंतगुणवाला है, आनंद का कंद है, ज्ञान का घनपिण्ड है। ऐसा आत्मा तू स्वयं है। इसप्रकार की बातें सुनकर हमें ऐसा भाव आना चाहिए कि अहो ! मुझे तो इस बात की खबर ही नहीं थी, मैं तो अपने

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५७

को मनुष्य ही मान रहा था, पर इस मनुष्य पर्याय की स्थिति ७०-८० वर्ष की है और मैं अनादि-अनन्त हूँ। अत: मैं मनुष्य नहीं हो सकता; क्योंकि मनुष्य-पर्याय के नाश होने पर भी मैं तो रहूँगा ही।

यदि इसप्रकार के भाव आवें तो समझना चाहिए कि हमारा चिन्तन सही दिशा में है; पर अधिकांश लोगों को तो इसप्रकार के विकल्प उठते हैं कि आत्मा के असंख्यप्रदेश, अनंतगुण किसने देखे हैं। इसीप्रकार यह आत्मा अनादि का है और अनंतकाल तक रहेगा ह्न इसकी क्या गारंटी है। इसप्रकार शंका से आरंभ करनेवालों को स्वाध्याय का असली लाभ प्राप्त नहीं होता।

जरा, सोचो तो सही कि जब डॉक्टर हम से कहता है कि आपके हृदय के बाल्व खराब हो गये हैं, उन्हें बदलना पड़ेगा।

तब हम बिना मीन-मेख किये उसकी बात स्वीकार कर लेते हैं। उसे चीर-फाड़ के लिए वक्षस्थल प्रस्तुत कर देते हैं, लिखकर दे देते हैं कि आप ऑपरेशन करिये, यदि हम मर गये तो आपकी जिम्मेदारी नहीं है।

डॉक्टर पर हम इतना भरोसा करते हैं, तभी शारीरिक दु:ख से मुक्ति मिलती है। मिथ्यादृष्टि एवं रागी-द्वेषी डॉक्टर का इतना भरोसा और वीतरागी ज्ञानी धर्मात्माओं की वाणी का अध्ययन आशंकाओं के बीच रहकर करना चाहते हैं।

इसीलिए तो पण्डितजी कहते हैं कि आत्मा की बात सुनकर ऐसा भाव आना चाहिए कि हमें तो इन बातों की खबर ही न थी। **हम सब जानते हैं, हमें सब पता है ह्न इसप्रकार के अहंकार से भरा चित्त जिनवाणी के श्रवण-पठन का पात्र नहीं है।**

हम क्या करें, हमें तो कोई समझानेवाला ही नहीं है ह्न इसप्रकार के भावों की अपेक्षा ऐसा विचार आना चाहिए कि आज मुझे जिनागम उपलब्ध है, उसे समझानेवाले भी उपलब्ध हैं।

कभी-कभी तो मैं कहता हूँ कि आज का जमाना भगवान महावीर के जमाने से भी अच्छा है। भगवान महावीर की ऑडियो, वीडियो उपलब्ध नहीं है; पर आज हमारे पास आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी

स्वामी के आठ हजार घंटों से अधिक के ऑडियो और सैंकड़ों वीडियो उपलब्ध हैं। आज भगवान महावीर के ऑडियो व वीडियो उपलब्ध होते तो उनके अनुयायियों में इतने मतभेद नहीं होते, इतने सम्प्रदाय नहीं होते।

आत्मकल्याण के लिए, आत्मा का अनुभव करने के लिए, जितने ज्ञान की आवश्यकता है; उतना ज्ञान हमें आज उपलब्ध है।

ज्ञान का क्षयोपशम भी है और देशना भी उपलब्ध है। शास्त्र हैं, उनके विशेषज्ञ ज्ञानी प्रवक्ता भी हैं। सभीप्रकार की अनुकूलता है। अत: अब हमें वस्तुस्वरूप को समझने का अपूर्व पुरुषार्थ करना चाहिए।

इसप्रकार अत्यन्त उत्साह से आत्मस्वभाव के निरूपक शास्त्रों का अध्ययन करके और ज्ञानी गुरुओं से मार्गदर्शन प्राप्त करके त्रिकालीध्रुव भगवान के सही स्वरूप को समझना चाहिए।

इसप्रकार विकल्पात्मक ज्ञान में भगवान आत्मा का सही स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर, उसके प्रति अपनेपन का भाव आने पर जब अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ होता है; तब निर्विकल्प आत्मानुभूति का मार्ग प्रशस्त होता है।

निर्विकल्प अनुभूति में जाने के पहले भगवान आत्मा का एकदम सही स्वरूप विकल्पात्मक ज्ञान में आना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि उसके बिना निर्विकल्प अनुभूति में प्रवेश संभव नहीं है।

एक गेगरिन नाम की बीमारी होती है। वह बहुत तेजी से फैलती है। अत: डॉक्टर कहता है कि आपकी अंगुलि में गेगरिन है, उसे काटना होगा। आप मुझे अंगुली काटने की सहमति दीजिए।

उसकी बात सुनकर जब रोगी कहता है कि मुझे सोचने दो; क्योंकि यह अंगुली तो बहुत काम आती है। डॉक्टर कहता है ह्न सोचने का समय नहीं है, यदि हाँ कहने में देर करोगे तो फिर हाथ काटना पड़ेगा। बात करते-करते कुछ देर हो जाती है और उसका हाथ काट दिया जाता है।

हाथ काटने में बहुत कुछ वह अंश भी कट जाता है; जिसमें कोई खराबी नहीं थी; क्योंकि यदि उसमें बीमारी का जरा-सा भी अंश रह जाता तो वह संपूर्ण शरीर में फैल सकती थी। **अत: डॉक्टर को यह सुविधा प्राप्त है कि वह नीरोग अंग को भी काट दे; पर धर्म के डॉक्टर को यह सुविधा प्राप्त नहीं है; क्योंकि स्व-पर भेदविज्ञान में यह कहा गया है कि रंचमात्र भी अपना अंश पर में या पर का अंश अपने में नहीं मिलाना।**

यदि रंचमात्र भी परपदार्थ को अपना मान लिया या निज को पररूप जान लिया तो विकल्पात्मक ज्ञान भी सच्चा नहीं होगा। यदि विकल्पात्मक ज्ञान सच्चा नहीं हुआ तो निर्विकल्पक आत्मानुभूति होना संभव नहीं है।

सम्यग्दृष्टि और सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि के विकल्पात्मक आत्मज्ञान में मात्र इतना ही अन्तर होता है कि सम्यग्दृष्टि ने स्वयं प्रत्यक्ष देखकर जाना है और सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि ने प्रत्यक्ष देखनेवाले से सुनकर जाना है, उसके द्वारा लिखित पढ़कर जाना है।

प्रश्न : क्या सभी पदार्थों का ऐसा ज्ञान करना होगा ?

उत्तर : नहीं, सभी का नहीं; मात्र अपने आत्मा का। एक ओर अपना भगवान आत्मा और दूसरी ओर सारा जगत। इन दोनों के बीच ही भेदज्ञान करना है। समस्त परपदार्थों से भिन्न अपने आत्मा को जानना है।

आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेष के भाव भी पर हैं। उनसे भी भिन्न अपने आत्मा को जानना है। वर्णादि और रागादि भावों से भिन्न निज भगवान आत्मा को जानना है। कहा भी है कि ह्न

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावा: सर्व एवास्य पुंस:।[१]

यह भगवान आत्मा वर्णादि भावों और रागादि विकारों से भिन्न ही है।

वर्णादि में सभी संयोग (परपदार्थ) आ जाते हैं और रागादि में संयोगी भाव अर्थात् आत्मा में उत्पन्न होनेवाले सभी विकारी भाव आ जाते हैं।

सद्गुरु के सदुपदेश से तत्त्वार्थ का, विशेषकर आत्मतत्त्व का आगमानुसार स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि या सम्यक्त्वी जीव सविकल्पदशा से निर्विकल्पदशा को किसप्रकार प्राप्त करते हैं ह्न इसका स्वरूप समझाते हुए पण्डितजी लिखते हैं ह्न

''वही सम्यक्त्वी कदाचित् स्वरूप ध्यान करने को उद्यमी होता है, वहाँ प्रथम भेदविज्ञान स्व-पर का करे; नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्म रहित केवल चैतन्य-चमत्कारमात्र अपना स्वरूप जाने; पश्चात् पर

१. समयसार, कलश ३७

का भी विचार छूट जाय, केवल स्वात्मविचार ही रहता है; वहाँ अनेक प्रकार निजस्वरूप में अहंबुद्धि धरता है।

चिदानन्द हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ ह्न इत्यादिक विचार होने पर सहज ही आनन्द तरंग उठती है, रोमांच हो आता है; तत्पश्चात् ऐसा विचार तो छूट जाय, केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगे; वहाँ सर्व परिणाम उस रूप में एकाग्र होकर प्रवर्तते हैं; दर्शन–ज्ञानादिक का व नय–प्रमाणादिक का भी विचार विलय हो जाता है।

चैतन्यस्वरूप जो सविकल्प से निश्चय किया था, उस ही में व्याप्य–व्यापकरूप होकर इसप्रकार प्रवर्त्तता है, जहाँ ध्याता–ध्येयपना दूर हो गया। सो ऐसी दशा का नाम निर्विकल्प अनुभव है।

बड़े नयचक्र ग्रन्थ में ऐसा ही कहा है ह्न

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराइणसमये पच्चक्खोअणुहवो जह्मा।।२६६।।

अर्थ :ह्न तत्त्व के अवलोकन (अन्वेषण) का जो काल उसमें समय अर्थात् शुद्धात्मा को युक्ति अर्थात् नय–प्रमाण द्वारा पहले जाने। पश्चात् आराधन समय जो अनुभवकाल उसमें नय–प्रमाण नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभव है।

जैसे ह्न रत्न को खरीदने में अनेक विकल्प आते हैं, जब प्रत्यक्ष उसे पहिनते हैं; तब विकल्प नहीं है, पहिनने का सुख ही है।

इसप्रकार सविकल्प के द्वारा निर्विकल्प अनुभव होता है।

तथा जो ज्ञान पाँच इन्द्रियों व छठवें मन के द्वारा प्रवर्त्तता था, वह ज्ञान सब ओर से सिमटकर इस निर्विकल्प अनुभव में केवल स्वरूप–सन्मुख हुआ; क्योंकि वह ज्ञान क्षयोपशमरूप है; इसलिए एक काल में एक ज्ञेय ही को जानता है, वह ज्ञान स्वरूप जानने को प्रवर्त्तित हुआ तब अन्य का जानना सहज ही रह गया। वहाँ ऐसी दशा हुई कि बाह्य अनेक शब्दादिक विकार हों तो भी स्वरूप ध्यानी को कुछ खबर नहीं ह्न इसप्रकार मतिज्ञान भी स्वरूपसन्मुख हुआ। तथा नयादिक के विचार मिटने पर श्रुतज्ञान भी स्वरूपसन्मुख हुआ।

ऐसा वर्णन समयसार की टीका आत्मख्याति में है तथा आत्माव–

लोकनादि में है। इसीलिए निर्विकल्प अनुभव को अतीन्द्रिय कहते हैं; क्योंकि इन्द्रियों का धर्म तो यह है कि स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द को जानें, वह यहाँ नहीं है; और मन का धर्म यह है कि अनेक विकल्प करे, वह भी यहाँ नहीं है; इसलिए यद्यपि जो ज्ञान इन्द्रिय–मन में प्रवर्त्तता था, वही ज्ञान अब अनुभव में प्रवर्त्तता है; तथापि इस ज्ञान को अतीन्द्रिय कहते हैं।[१]''

उक्त प्रकरण में सविकल्प से निर्विकल्प होने का जो स्वरूप स्पष्ट किया है; उसमें व्यवहार धर्मध्यान और निश्चय धर्मध्यान का स्वरूप भी स्पष्ट हो गया है।

उक्त प्रक्रिया में सर्वप्रथम भेदज्ञान करने को कहा गया है, जिसमें स्त्री-पुत्रादि और शरीररूप नोकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्मों से रहित ज्ञानानन्दस्वभावी निज आत्मा का स्वरूप, अध्ययन, श्रवण, मनन-चिन्तनपूर्वक जानने की बात कही है।

उक्त प्रक्रिया में चलते-चलते परसंबंधी विकल्प भी टूट जाता है, केवल स्वात्मविचार ही रहता है और विविध प्रकार से अपने में अपनापन स्थापित हो जाता है।

इसप्रकार की स्थिति में आनंद की तरंगें उठती हैं और आत्मार्थी जीव रोमांचित हो उठता है, विकल्प समूह समाप्त हो जाते हैं और ज्ञानमात्र आत्मा ही प्रतिभासित होने लगता है; आत्मा आत्मामय हो जाता है और ज्ञान–दर्शन और प्रमाण–नय के विकल्प भी विलीन हो जाते हैं; ध्याता, ध्यान और ध्येय के विकल्प भी नहीं रहते हैं।

उक्त कथन को बल प्रदान करने के लिए पण्डित टोडरमलजी नयचक्र का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं और रत्नहार खरीदने व पहिनने का उदाहरण देते हैं। समयसार गाथा १४४ की टीका में समागत मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के आत्मसम्मुख करने की प्रक्रिया की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं।

अन्त में यह भी कहते हैं कि यह अनुभव अतीन्द्रिय अनुभव है। इसी अनुभव को कहीं-कहीं मनजनित भी कह देते हैं; क्योंकि यह समस्त प्रक्रिया मति-श्रुतज्ञान में ही सम्पन्न होती है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४२–३४४

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि आपने तो कहा था कि सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि सविकल्पदशा से निर्विकल्पदशा किसप्रकार प्राप्त करते हैं ? पर उत्तर में पण्डित टोडरमलजी की रहस्यपूर्णचिट्ठी का जो अंश उद्धृत किया, उसमें मात्र सम्यग्दृष्टि की ही बात आई है।

अरे, भाई ! दोनों ही स्थितियों में लगभग एक सी ही प्रक्रिया चलती है; अत: इसमें कोई विरोध नहीं है।

उक्त प्रकरण का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

''देखो, यह स्वानुभव की अलौकिक चर्चा ! यहाँ तो एकबार जिसको स्वानुभव हो गया है और फिर से वह निर्विकल्प स्वानुभव करता है, उसकी बात की है; परन्तु पहली बार भी जो निर्विकल्प स्वानुभव का उद्यम करता है, वह भी इसीप्रकार से भेदज्ञान व स्वरूपचिन्तन के अभ्यास द्वारा परिणाम को निजस्वरूप में तल्लीन करके स्वानुभव करता है।[१]

एक बार ऐसा निर्विकल्प अनुभव जिसके हुआ हो, उसके ही निश्चय-सम्यक्त्व है ह्र ऐसा जानना।[२]

देखो तो सही, इसमें चैतन्य की अनुभूति के कितने रस का घोलन हो रहा है ! ऊपर जितना वर्णन किया, वहाँ तक तो अभी सविकल्पदशा है। **इस चिन्तन में जो आनन्द-तरंगें उठती हैं, वह निर्विकल्प अनुभूति का आनन्द नहीं है; परन्तु स्वभाव की तरफ के उल्लास का आनन्द है और इसमें स्वभाव की तरफ के अतिशय प्रेम के कारण रोमांच हो उठता है। रोमांच अर्थात् विशेष उल्लास; स्वभाव के प्रति विशेष उत्साह।**[३]

इसके बाद चैतन्यस्वभाव के रस की उग्रता होने पर ये विचार (विकल्प) भी छूट जायें और परिणाम अन्तर्मग्न होकर केवल चिन्मात्र-स्वरूप भासने लगें, सर्व परिणामस्वरूप में एकाग्र होकर वर्ते उपयोग स्वानुभव में प्रवर्ते ह्र इसी का नाम निर्विकल्प आनन्द का अनुभव है।

१. अध्यात्म-सन्देश, पृष्ठ ५०
२. वही, पृष्ठ ५०-५१
३. वही, पृष्ठ ५३

वहाँ दर्शन-ज्ञान-चारित्र संबंधी या नय-प्रमाणादि का कोई विचार नहीं रहता, सभी विकल्पों का विलय हो जाता है।[१]

सविकल्प के द्वारा निर्विकल्प में आया ह्र ऐसा उपचार से कहा जाता है। स्वरूप के अनुभव का उद्यम करने में प्रथम उसकी सविकल्प विचारधारा चलती है, उसमें सूक्ष्म राग व विकल्प भी होते हैं, परन्तु उस राग को या विकल्प को साधन बनाकर स्वानुभव में नहीं पहुँचा जाता; राग का व विकल्पों का उल्लंघन करके सीधा आत्मस्वभाव का अवलम्बन लेकर उसे ही साधन बनावें, तभी आत्मा का निर्विकल्प स्वानुभव होता है और तभी जीव कृतकृत्य होता है। शास्त्रों में इसका अपार माहात्म्य किया गया है।[२]

'विचार करने में तो विकल्प होता है' ह्र ऐसा समझकर कोई जीव विचारधारा में ही न प्रवर्ते तो कहते हैं कि **रे भाई ! विचार में अकेले विकल्प ही तो नहीं है; 'विचार' में साथ-साथ ज्ञान भी तत्त्वनिर्णय का कार्य कर रहा है। अत: इनमें से ज्ञान की मुख्यता कर और विकल्प को गौण बना दे। ऐसे स्वरूप का अभ्यास करते-करते ज्ञान का बल बढ़ जायेगा, तब विकल्प टूट जायेगा और ज्ञान ही रह जायेगा,** अतएव विकल्प से भिन्न ज्ञान अन्तर्मुख होकर स्वानुभव करेगा; परन्तु जो जीव तत्त्व का अन्वेषण ही नहीं करता, आत्मा की विचारधारा ही जो नहीं चलाता, उसे तो निर्विकल्प स्वानुभव कहाँ से होगा।[३]''

स्वामीजी के उक्त कथन में अत्यन्त स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि जब कोई सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व के नाश और सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए आगमानुसार विचार करता है, चिन्तन करता है; तब उसमें अकेले विकल्प ही नहीं रहते, विचार ही नहीं रहते; साथ में ज्ञान भी अत्यन्त सक्रिय रहता है। उक्त प्रक्रिया से ज्ञान का बल बढ़ता है, विकल्प टूट जाते हैं, विचार रुक जाते हैं और ज्ञान निर्विकल्प दशारूप परिणमित हो जाता है।

१. अध्यात्म-सन्देश, पृष्ठ ५३
२. वही, पृष्ठ ५६
३. वही, पृष्ठ ५९

अरे, भाई ! विकल्प दो प्रकार के होते हैं। एक तो रागात्मक विकल्प और दूसरे ज्ञान का स्वरूप जो भेद करके जाननेरूप है, उसे भी विकल्प कहते हैं। जहाँ विकल्पों के अभाव या नाश की बात होती है, वहाँ रागात्मक विकल्पों की बात होती है; क्योंकि जो विकल्प ज्ञान के स्वरूप में शामिल हैं, उनका अभाव न तो संभव है और न इष्ट ही।

इसमें ध्यान देने योग्य बात यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव जब सविकल्प से निर्विकल्पदशा को प्राप्त करता है; तब उसको मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय के अभावरूप शुद्धपरिणति, लब्धिज्ञान में आत्मोपलब्धि और उक्त त्रिकाली ध्रुव में अपनेपनरूप सम्यग्दर्शन विद्यमान रहता है; अत: उसमें यह प्रश्न उपस्थित नहीं होता कि वह शुभभावरूप विकल्पों के बल से निर्विकल्प हुआ है; पर सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि जब सविकल्प से निर्विकल्प होता है, तब यह प्रश्न उपस्थित होता है; क्योंकि उसके पास श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की निर्मलता का बल नहीं है।

इस आशंका का समाधान करते हुए स्वामीजी कहते हैं कि **सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि के तत्त्वविचार में जो ज्ञान का वृद्धिंगत बल है, उससे ही यह कार्य सम्पन्न होता है।**

इसप्रकार यह सुनिश्चित ही है कि पहले भगवान आत्मा का सही स्वरूप विकल्पात्मक ज्ञान में आता है और उसके बाद उसमें अपनेपन के बल से, आत्मरुचि की तीव्रता से ज्ञान का बल बढ़ता है।

बढ़ते हुए ज्ञानबल से विकल्पात्मक निर्णय निर्विकल्प अनुभव में परिणमित हो जाता है।

सविकल्प से निर्विकल्प होने की यही विधि है। •

> सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के लिए शुद्धात्मा का अनुभव करना हमारा मूल प्रयोजन है, अत: शुद्धात्मा हमारे लिए प्रयोजनभूत हुआ; इसीलिए शुद्धात्मा को विषय करनेवाला निश्चयनय भूतार्थ है। संयोग व संयोगीभावादि के अनुभव से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति का प्रयोजन सिद्ध न होने से वे अप्रयोजनभूत ठहरे। इसीकारण उन्हें विषय बनानेवाला व्यवहारनय भी अभूतार्थ कहा गया है।
>
> **ह्न परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ५७**

पाँचवाँ प्रवचन

संतप्त मानस शांत हों, जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में।।

पण्डित टोडरमलजी द्वारा लिखित रहस्यपूर्णचिट्ठी पर चर्चा चल रही है। विगत प्रवचन में यह स्पष्ट हो चुका है कि पहले शुद्धात्मतत्त्व के निरूपक शास्त्रों के अध्ययन और उनके मर्म को जाननेवाले गुरुओं के संबोधन से विकल्पात्मक ज्ञान में शुद्धात्मतत्त्व का वास्तविक स्वरूप ख्याल में आता है। उसके बाद वह शुद्धात्मतत्त्व का ज्ञान सविकल्प से निर्विकल्परूप परिणमित होता है। सविकल्प से निर्विकल्प होने की सम्पूर्ण प्रक्रिया कैसे सम्पन्न होती है ह्न इसकी चर्चा विस्तार से हो गई है।

अब प्रश्न यह है कि आरंभ में तो आप देव-शास्त्र-गुरु की बात कर रहे थे; पर अन्त में आते-आते मात्र शास्त्रों के अध्ययन और ज्ञानी गुरुओं के श्रवण की बात करने लगे, देव को छोड़ दिया। इसका क्या कारण है ?

अरे, भाई ! तीनों की ही बात है। बात यह है कि **इस युग में अरहंत देव का सत्समागम इस क्षेत्र में संभव नहीं है; पर उनकी वाणी शास्त्रों के रूप में हम सभी को सहज ही उपलब्ध है और उसके प्रवक्ता भी कहीं-कहीं मिल ही जाते हैं। इसलिए शास्त्र और गुरु की बात मुख्य हो गई।**

दूसरी बात यह भी तो कि **अरहंतदेव भी परमगुरु ही हैं**; क्योंकि उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, वे हमें तत्त्व समझाते हैं।

शास्त्र के पहले बोले जानेवाले मंगलाचरण में आता है ह्न

''**परमगुरवे नम:, परम्पराचार्यगुरवे नम: ह्न** परमगुरु को नमस्कार हो, परम्पराचार्यगुरु को नमस्कार हो।''

उक्त कथन के अनुसार जब आचार्यदेव परम्परागुरु हैं तो अरहंतदेव के अतिरिक्त और कौन है, जिसे मूलरूप से परमगुरु माना जाय?

शास्त्र और गुरु की प्रामाणिकता का मूल आधार तो परमगुरु अरहंतदेव ही हैं।

सोलहकारण पूजन में भी अरहंतदेव को परमगुरु कहा गया है; जो इसप्रकार है ह्न

दरशविशुद्धिभावना भाय, सोलह तीर्थंकर पद पाय।
परमगुरु होय जय-जय नाथ परमगुरु होय।।

हे तीर्थंकर अरहंत भगवान ! आपने दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं को भाकर तीर्थंकर पद प्राप्त करके परमगुरु अवस्था अर्थात् अरहंत अवस्था को प्राप्त किया है। आपकी जय हो, जय हो।

सोलहकारण पूजन वस्तुत: सोलहकारण भावनाओं की पूजन नहीं है; क्योंकि सोलहकारण भावनायें तो तीर्थंकर प्रकृति के बंध की कारण हैं। जैनदर्शन में बंध के कारणों की पूजा नहीं होती, अपितु बंध के अभाव के कारणरूप रत्नत्रय की और रत्नत्रयधारकों की पूजा होती है। **जिसे आप सोलहकारणपूजन कहते हो, वह पूजन उन परमगुरु अरहंतदेव की है, जो सोलह कारण भावनायें भाकर तीर्थंकर पद को प्राप्त हुए हैं।** यह बात उक्त पंक्तियों से स्पष्ट है।

पंचपरमेष्ठियों के वर्गीकरण दो प्रकार से प्राप्त होते हैं। प्रथम वर्गीकरण में अरहंत और सिद्ध को देव तथा आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को गुरु में शामिल किया जाता है। दूसरे वर्गीकरण में मात्र **सिद्ध भगवान ही देव हैं और अरहंत, आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु हैं।**

दूसरे वर्गीकरण का आधार यह है कि आत्मा की पूर्ण अमल-अचल सिद्धपर्यायधारी सिद्ध भगवान ही देव हैं; क्योंकि वे हमारे आदर्श हैं, हमें उन जैसा बनना है। अरहंत भगवान चार घातिया कर्मों के सद्भाव में होनेवाले मोह-राग-द्वेष और अल्पज्ञता के अभाव से वीतरागी-सर्वज्ञ तो हो गये हैं, अमल तो हो गये हैं; पर अभी अघातिया कर्मों के सद्भाव के कारण अचल नहीं हुए। तात्पर्य यह है कि **सिद्ध भगवान अमल होने के साथ-साथ अचल भी हैं, पर अरहंत भगवान अमल तो हैं, पर अचल नहीं।**

इसकारण अरहंत भगवान को भी परमगुरु के रूप में गुरुओं में शामिल किया गया है।

सिद्ध भगवान की दिव्यध्वनि नहीं खिरती; अत: वे तो हमारे लिए मात्र आदर्श हैं; पर परमगुरु अरहंतदेव की दिव्यध्वनि खिरती है; अत: वे परमोपकारी परमगुरु हैं।

वस्तुस्वरूप का निर्णय प्रमाण और नयों के द्वारा होता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार के होते हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण हैं। मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान मतिज्ञान के ही रूप हैं; क्योंकि इन सभी में मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम निमित्त होता है।

श्रुतज्ञान आगम प्रमाण है। श्रुतज्ञानरूप आगम प्रमाण का आधार परमगुरु अरहंतदेव की वाणी है; इसलिए परमगुरु अरहंतदेव की वाणी के अनुसार ज्ञानीजनों द्वारा लिखे गये शास्त्रों को आगम कहा जाता है।

इसप्रकार परमगुरु अरहंतदेव और परम्परागुरु आचार्यदेव आदि द्वारा प्रतिपादित आगम ही शास्त्र हैं। इसप्रकार **शास्त्र और शास्त्रानुसार की गई ज्ञानी गुरुओं की देशना ही वह आधार है; जो हमें विकल्पात्मक ज्ञान में वस्तुतत्त्व का सही स्वरूप समझने में निमित्त है।**

अत: हमने जो आगम के सेवन, युक्ति के अवलंबन और परम्परा गुरुओं के उपदेश से वस्तुस्वरूप का ह्न आत्मवस्तु का निर्णय किया है; वह भी प्रमाण है; स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम भी प्रमाण हैं, प्रमाण के भेद हैं। इन्हीं के आधार पर प्रत्यक्ष अनुभव का मार्ग प्रशस्त होता है।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि प्रत्यक्ष अनुभव के बिना ये परोक्षज्ञान तो अप्रमाण ही है न ?

उत्तर : यद्यपि यह सत्य है कि आत्मानुभव के बिना सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। इसलिए सम्यग्ज्ञान है लक्षण जिसका ऐसा प्रमाण अनुभवहीन ज्ञान कैसे हो सकता है; तथापि **आगमज्ञान की प्रामाणिकता तो परमगुरु अरहंतदेव के आधार से है; उसके ज्ञान के आधार से नहीं, जिसे देशनालब्धि प्राप्त हो रही है।**

जिस अनुभवज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जा रहा है; उसके प्रत्यक्षपने के

संदर्भ में विशेष स्पष्टीकरण आगे स्वयं पण्डित टोडरमलजी इसी रहस्यपूर्ण-चिट्ठी में विस्तार से करनेवाले हैं।

जब कोई मैनेजर या मुनीम किसी फर्म (सेठ) की ओर से कोई पत्र लिखता है; तो उस पत्र की विश्वसनीयता फर्म (सेठ) के आधार पर होती है; मैनेजर या मुनीम के आधार पर नहीं। उस पत्र के प्रभाव से होने वाला हानि-लाभ भी फर्म (सेठ) को होता है, मुनीम या मैनेजर को नहीं।

इसीप्रकार जब कोई व्यक्ति वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन आगमानुसार करता है तो उसकी प्रामाणिकता आगम के आधार से होती है, उस व्यक्ति के आधार से नहीं। इसप्रकार आचार्य, उपाध्याय और साधुगण तथा ज्ञानी धर्मात्मा ह्न **सभी छद्मस्थों द्वारा लिखित या निरूपित वस्तुस्वरूप की प्रामाणिकता का आधार एकमात्र अरहंत सर्वज्ञ परमात्मा और उनकी दिव्यध्वनि ही है।**

जिसप्रकार आज के विज्ञान के अनुसार सूर्य की रोशनी तो स्वयं की है, वह तो स्वयं से ही प्रकाशित है; पर चन्द्रमा की रोशनी स्वयं की नहीं है। जब सूर्य की किरणें उस पर पड़ती हैं, तब वह उनसे प्रकाशित होता है, चमकता है।

उसीप्रकार केवलज्ञानरूपी सूर्य से सम्पन्न अरहंत भगवान तो स्वयं से प्रमाणित हैं। उन्हें अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए किसी दूसरे का प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है; परन्तु शेष सभी छद्मस्थ क्षयोपशम ज्ञानी गणधरदेव, आचार्य, उपाध्याय और साधुवर्ग तथा ज्ञानी धर्मात्मा श्रावकों की बात अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि के आधार पर ही प्रमाणित होती है। यही कारण है कि सभी ज्ञानी धर्मात्मा अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए अपने पूर्ववर्ती प्रामाणिक आचार्यों, सन्तों और ज्ञानियों के कथनों को उद्धृत करते हैं।

यहाँ तक कि कुन्दकुन्दाचार्य जैसे समर्थ आचार्य भी ह्न **जिणेहिं णिद्दिट्ठं**=जिनेन्द्रदेव ने कहा है; **भणिदा खलु सव्वदरसीहिं**=सर्वदर्शी जिनेन्द्रदेव द्वारा कहा गया है ह्न इसप्रकार कहकर अपनी बात की प्रामाणिकता को प्रस्तुत करते हैं।

आजकल कुछ लोग कहने लगे हैं कि आचार्यों की बात ही प्रामाणिक है; गृहस्थ विद्वानों की नहीं। इसप्रकार वे महापण्डित टोडरमलजी जैसे दिग्गज विद्वानों के कथनों की उपेक्षा करना चाहते हैं, उनके कथनों को अप्रमाणिक बताना चाहते हैं; जो किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

वे यह नहीं सोचते कि वे स्वयं भी तो विद्वान हैं। क्या उनके कथनों को सही नहीं माना जाय ? यदि हाँ तो फिर उनके इस कथन को भी कैसे स्वीकार किया जा सकता है।

अरे, भाई ! दिव्यध्वनि में समागत, पूर्व परम्परा से प्राप्त जिनागम के सभी कथन यदि वे तर्क की कसौटी पर खरे उतरते हैं तो बिना किसी भेदभाव के प्रमाणित ही हैं।

प्रश्न ह्न इसप्रकार तो कोई भी कुछ भी लिख देगा; क्या हम उसे भी प्रमाण मानेंगे ?

उत्तर ह्न नहीं, कदापि नहीं; हाँ, यदि वह हमारी प्राप्त परम्परा के अनुसार सही है, तभी स्वीकार होगा।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का मार्गदर्शन इसप्रकार है ह्न

''प्रथम मूल उपदेशदाता तो तीर्थंकर केवली, सो तो सर्वथा मोह के नाश से सर्वकषायों से रहित ही हैं। फिर ग्रंथकर्ता गणधर तथा आचार्य, वे मोह के मंद उदय से सर्व बाह्याभ्यन्तर परिग्रह को त्यागकर महामंदकषायी हुए हैं; उनके उस मंदकषाय के कारण किंचित् शुभोपयोग ही की प्रवृत्ति पायी जाती है और कुछ प्रयोजन ही नहीं है।

तथा श्रद्धानी गृहस्थ भी कोई ग्रन्थ बनाते हैं वे भी तीव्रकषायी नहीं होते। यदि उनके तीव्र कषाय हो तो सर्व कषायों का जिस-तिस प्रकार से नाश करनेवाला जो जिनधर्म उसमें रुचि कैसे होती ?

अथवा जो कोई मोह के उदय से अन्य कार्यों द्वारा कषाय का पोषण करता है तो करो; परन्तु जिन-आज्ञा भंग करके अपनी कषाय का पोषण करे तो जैनीपना नहीं रहता।

इसप्रकार जिनधर्म में ऐसा तीव्रकषायी कोई नहीं होता जो असत्य पदों की रचना करके पर का और अपना पर्याय-पर्याय में बुरा करे।

प्रश्न ह्न यदि कोई जैनाभास तीव्रकषायी होकर असत्यार्थ पदों को जैन शास्त्रों में मिलाये और फिर उसकी परम्परा चलती रहे तो क्या किया जाय ?

उत्तर ह्न जैसे कोई सच्चे मोतियों के गहने में झूठे मोती मिला दे, परन्तु झलक नहीं मिलती; इसलिए परीक्षा करके पारखी ठगाता भी नहीं है, कोई भोला हो वही मोती के नाम से ठगा जाता है; तथा उसकी परम्परा भी नहीं चलती, शीघ्र ही कोई झूठे मोतियों को निषेध करता है। उसीप्रकार कोई सत्यार्थ पदों के समूहरूप जैनशास्त्र में असत्यार्थ पद मिलाये; परन्तु जैनशास्त्रों के पदों में तो कषाय मिटाने का तथा लौकिक कार्य घटाने का प्रयोजन है और उस पापी ने जो असत्यार्थ पद मिलाये हैं, उनमें कषाय का पोषण करने का तथा लौकिक कार्य साधने का प्रयोजन है, इसप्रकार प्रयोजन नहीं मिलता; इसलिए परीक्षा करके ज्ञानी ठगाता भी नहीं, कोई मूर्ख हो वही जैनशास्त्र के नाम से ठगा जाता है, तथा उसकी परम्परा भी नहीं चलती, शीघ्र ही कोई उन असत्यार्थ पदों का निषेध करता है।

दूसरी बात यह है कि ह्न ऐसे तीव्र कषायी जैनाभास यहाँ इस निकृष्ट काल में ही होते हैं; उत्कृष्ट क्षेत्र-काल बहुत हैं, उनमें तो ऐसे होते नहीं। इसलिए जैनशास्त्रों में असत्यार्थ पदों की परम्परा नहीं चलती। ह्न ऐसा निश्चय करना।[१]''

इसप्रकार यह समझना ही सही है कि जिनका प्रतिपादन वीतरागता की पोषक जिनवाणी के अनुसार हो; उनके प्रतिपादन में व्यर्थ की शंका-आशंकाएँ खड़ी करना ठीक नहीं है।

एक होता है मार्ग और एक होता है मार्ग का मार्ग। यदि हम किसी से मुम्बई जाने का मार्ग पूछे और वह हमें बताये कि मुम्बई जानेवाले प्लेन में या ट्रेन में बैठ जाइये; आप मुम्बई पहुँच जावेंगे। यह तो हुआ मार्ग।

प्लेन या ट्रेन में बैठ गये ह्न अब हमें क्या करना है ?

कुछ नहीं, अब तो प्लेन चलेगा या ट्रेन चलेगी और हम यथासमय

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १२

मुम्बई पहुँच जावेंगे; पर हमारी मूल समस्या तो यह है कि प्लेन या ट्रेन में बैठे कैसे ? वे हैं कहाँ ?

इसप्रकार एक है मोक्ष का मार्ग और दूसरा है मोक्ष के मार्ग का मार्ग। यदि हम किसी से मोक्ष में जाने का मार्ग पूछे और वह बताये कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त कर लीजिये, आप मुक्ति में पहुँच जावेंगे। यह तो हुआ मार्ग।

हमारी मूल समस्या तो यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति कैसे हो ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष के मार्ग पर कैसे पहुँचे ?

यहाँ जिसकी चर्चा चल रही है; वस्तुत: वह मोक्ष के मार्ग का मार्ग है। इसमें कहा गया है कि **क्षयोपशम और विशुद्धिलब्धि से सम्पन्न व्यक्ति जब किसी ज्ञानी धर्मात्मा से सुनकर, समझकर वस्तुस्वरूप का निर्णय करता है या आगम का अभ्यास करके वस्तुस्वरूप समझने का पुरुषार्थ करता है या दोनों के सहयोग से इस दिशा में सक्रिय होता है; अध्ययन, मनन, चिंतन के आधार पर वस्तुस्वरूप का सही निर्णय कर रहा होता है; तब वह मुक्ति के मार्ग के मार्ग में होता है।**

इसप्रकार मुक्ति के मार्ग के मार्ग में स्थित आत्मार्थी का मार्गदर्शन करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह्न

''इसलिए मुख्यता से तो तत्त्वनिर्णय में उपयोग लगाने का पुरुषार्थ करना। तथा उपदेश भी देते हैं, सो यही पुरुषार्थ कराने के अर्थ दिया जाता है तथा इस पुरुषार्थ से मोक्ष के उपाय (मोक्षमार्ग) का पुरुषार्थ अपने आप सिद्ध होगा।[१]''

जिसप्रकार प्लेन या ट्रेन में बैठ जाने के बाद तो मार्ग सुगम ही है; कठिनाई तो प्लेन या ट्रेन में बैठने में है। उसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के बाद तो मार्ग सुगम ही है; असली कठिनाई तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति करने में ही है। इसमें जिनवाणी (सत्साहित्य) और गुरु की विशेष आवश्यकता है; क्योंकि अभी हमें कुछ पता नहीं है, सबकुछ समझना है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३११

सम्यग्दृष्टि जीवों को तो जहाँ वे खड़े हैं, वहाँ से मोक्ष तक का पूरा मार्ग अत्यन्त स्पष्टरूप से दिखाई देता है; पर अनादिकालीन मिथ्यादृष्टियों को तो सबकुछ घने अंधकार में है। इसलिए उन्हें तो पग-पग पर मार्गदर्शन की आवश्यकता है।

विकल्पात्मक ज्ञान में एक बार सही निर्णय हो जाने और त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा में अपनापन आ जाने के बाद होनेवाली उग्रतम आत्मरुचि में विशेष प्रकार की योग्यता का परिपाक ही प्रायोग्यलब्धि है।

जब यह सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टि जीव उक्त विकल्पात्मक प्रक्रिया से पार होकर निर्विकल्पदशा को प्राप्त करता हुआ करणलब्धि में प्रवेश करता है, तब सम्यग्दर्शन प्राप्त करके ही रहता है।

जिसप्रकार प्लेन में बैठ जाने और उसके रवाना होने के बाद लौटना संभव नहीं होता; उसीप्रकार करणलब्धि में पहुँचने के बाद लौटना संभव नहीं रहता; फिर सम्यग्दर्शन होता ही होता है।

जबतक हम किनारे पर पहुँच कर नाव में से उतर नहीं जाते, तबतक नदी में ही हैं; एक पैर भी नाव में है, तब भी नदी में ही है। उसीप्रकार जबतक जीव करणलब्धि में है, तबतक सम्यक्त्व के सन्मुख ही है, सम्यग्दृष्टि नहीं।

जब नाव पूरी तरह छोड़ दें, तभी पार हुए कहे जावेंगे। उसीप्रकार करणलब्धि का काल पूरा होने पर ही सम्यग्दृष्टि होते हैं।

सम्यग्दृष्टि होने के बाद तो मोक्ष तक का सम्पूर्ण मार्ग एकदम स्पष्ट हो ही जाता है, सबकुछ साफ-साफ दिखाई देता है। अत: अब गुरु की उतनी आवश्यकता नहीं रहती, जितनी पहले थी।

देव-शास्त्र-गुरु का सहयोग तो मुख्यरूप से देशनालब्धि में ही है। यदि हम देशनालब्धि संबंधी प्रक्रिया की उपेक्षा करेंगे, उसे अप्रमाण कहेंगे, उसकी प्रामाणिकता पर संदेह करेंगे, उसे हेय दृष्टि से देखेंगे तो मार्ग से भटक जाने की पूरी-पूरी संभावना है; क्योंकि **संदेह के साथ किये गये प्रयास में वह सामर्थ्य नहीं होती कि वह कार्यसिद्धि में सफलता दिला सके।**

जबतक सात फेरे नहीं पड़े, तबतक जमाई के स्वागत-सत्कार की, संभाल की अधिक आवश्यकता है। उसीप्रकार **देशनालब्धि के काल में देव-शास्त्र-गुरु के प्रति आस्था-भक्ति की अधिक आवश्यकता है।**

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रगट होते ही तो यह आत्मा द्रुतगति से मुक्ति के मार्ग में बढ़ने लगता है; प्रतिसमय शुद्धि की वृद्धिरूप निर्जरा आरंभ हो जाती है। वह शुद्धि की वृद्धि सोते, खाते-पीते, उठते-बैठते चलती रहती है; मोक्षमार्ग में गमन निरन्तर होता ही रहता है।

इसलिए मैं कहता हूँ कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होने के बाद तो स्वयंचालित प्रक्रिया चल निकलती है; अत: सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति के लिए जो कुछ पुरुषार्थ करना है, वह तो सम्यग्दर्शन होने के पहले ही करना है। कम से कम जहाँ यह अज्ञानी जीव खड़ा है, वहाँ तो देशनालब्धि पूर्वक सम्यक् तत्त्व निर्णय करने का ही पुरुषार्थ करना है।

कलश टीका में तो लिखा है कि "**शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है; इसलिए शुद्धात्मानुभूति के होने पर शास्त्र पढ़ने की कुछ अटक नहीं है।**[1]"

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होने के बाद शास्त्रों का अध्ययन और गुरुवचनों का श्रवण करने की अनिवार्यता नहीं है; क्योंकि जिस कार्य में इनकी आवश्यकता थी, वह कार्य तो हो चुका है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा जीव शास्त्राध्ययन नहीं करते, गुरु मुख से तत्त्व श्रवण नहीं करते; करते हैं, अवश्य करते हैं; पर कुछ समझने के लिए नहीं, अपितु **अपनी रुचि के पोषण के लिए करते हैं।**

यह बात तो सर्वविदित ही है कि भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम को भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरने के पूर्व ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गयी थी, वे द्वादशांग के पाठी हो गये थे, उन्हें मन:पर्ययज्ञान हो गया था; तथापि वे प्रतिदिन ७ घंटा और १२ मिनिट तक भगवान महावीर की दिव्यध्वनि में उपस्थित रहते थे, रुचिपूर्वक श्रवण करते थे।

यद्यपि कलश टीका का उक्त कथन सुनकर स्वाध्याय से विरक्त होने

१. समयसार कलश १३ की राजमलीय कलश टीका

की आवश्यकता नहीं है; तथापि इस महासत्य को जानना भी जरूरी है कि **जबतक गौतमस्वामी को दिव्यध्वनि सुनने का विकल्प रहा, तबतक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। भगवान महावीर के निर्वाण होने पर विकल्प टूटा नहीं कि उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी।**

जिनवाणी में समागत कथनों को गंभीरता से समझने की आवश्यकता है। प्रत्येक कथन की अपेक्षा को अत्यन्त सावधानीपूर्वक समझना चाहिए, उसका प्रतिपादन भी अत्यन्त सावधानीपूर्वक किये जाने की आवश्यकता है; अन्यथा स्व-पर की हानि होने की संभावना बनी ही रहती है।

मुक्ति अर्थात् सच्चा सुख प्राप्त करने के लिए हमें सबसे पहले मिथ्यात्व नामक कर्म एवं मिथ्यात्व भाव का अभाव करना है। उसके लिए प्रयोजनभूत तत्त्वों का, विशेषकर आत्मतत्त्व का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है। यह काम मिथ्यात्व की भूमिका में मिथ्यात्व के रहते-रहते ही करना है। इसके लिए निमित्तरूप से एकमात्र जिनवाणी और उसके ज्ञाता गुरु ही शरण हैं। इसलिए करना तो यह चाहिए कि हम जिनवाणी के स्वाध्याय से, उसका मर्म जाननेवाले गुरुओं के सहयोग से तत्त्वनिर्णय करने में जुटे, पूरी शक्ति से इसमें ही अपने उपयोग को लगावें; किन्तु **जिन अघातिया कर्मों में फेरफार करने का प्रयास अनन्तवीर्य और अतुल्यबल के धनी अरहंत भगवान भी नहीं करते; हम सब उन अघातिया कर्मों और उनके उदय में प्राप्त होनेवाले संयोगों में फेरफार करने के चक्कर में ही उलझे रहते हैं।**

यह तो आप जानते ही होंगे कि अनन्तवीर्य उस आत्मबल को कहते हैं कि जो अरहंत भगवान को प्रगट होनेवाले अनंतचतुष्टय में आता है और अन्तरायकर्म के अभाव में प्रगट होता है तथा तीर्थंकरों को प्राप्त होनेवाले अतुलनीय शारीरिक बल को अतुल्यबल कहते हैं।

ऐसे अनन्तवीर्य और अतुल्यबल के धारी तीर्थंकर अरहंत भी जिन अघातिया कर्मों के नाश का प्रयास नहीं करते; क्योंकि वे तो स्वसमय पर स्वयं नष्ट हो जानेवाले हैं; हम सब उन अघातिया कर्मों के उदय से होनेवाले संयोगों में फेरफार करने के विकल्पों में ही उलझे रहते हैं।

यद्यपि हमारे विकल्पों से इनमें कुछ भी नहीं होता; तथापि सारा जगत इसी दिशा में सक्रिय है।

सम्पूर्ण जगत का निरन्तर यही प्रयास रहता है कि शरीर स्वस्थ रहे, स्त्री-पुत्रादि अनुकूल रहें, भोग सामग्री की अनुकूलता बनी रहे और समाज में प्रतिष्ठा बनी रहे। इन सबकी अनुकूलता में अघातिया कर्म ही निमित्त हैं। इनमें फेरफार की बुद्धि अघातिया कर्मों में फेरफार की बुद्धि है।

इनमें हुए फेरफार से कुछ भी होनेवाला नहीं है। आत्मगुणों के घातक तो घातिया कर्म हैं। घातिया कर्मों में मोहनीय और मोहनीय में भी दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होनेवाला मिथ्यात्व भाव ही अनंतदु:ख का कारण है। इसकी ओर किसी का ध्यान नहीं है।

अरे, भाई ! असली धर्म तो मिथ्यात्व के अभाव का नाम है; अत: हमें पूरी शक्ति से मिथ्यात्व के अभाव का पुरुषार्थ करना चाहिए।

मिथ्यात्व का अभाव करने के लिए सबसे पहले आत्मस्वरूप के निरूपक शास्त्रों को पढ़कर, उनके मर्म को जाननेवाले गुरुओं से सुनकर दृष्टि के विषयभूत, परमध्यान के ध्येय एवं परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत, परमपारिणामिकभावरूप आत्मा को समझना है, विकल्पात्मक ज्ञान में उसका सही स्वरूप जानना है, उसे ही निजरूप मानना है। उसके बाद तीव्रतम आत्मरुचि के वेग से उसी में तन्मय हो जाना है, उसीरूप हो जाना है।

जब किसी वस्तु या व्यक्ति में अपना अपनापन हो जाता है; तब उस व्यक्ति या वस्तु के प्रति हमारा सर्वस्व समर्पण हो जाता है। वह हमारे ज्ञान का ज्ञेय, ध्यान का ध्येय निरन्तर बना रहता है। हम कुछ भी क्यों न कर रहे हों, हमारा ध्यान बार-बार उसकी ओर ही जाता है, जिसमें हमारा अपनापन होता है।

अनादिकाल से हमारा अपनापन अत्यन्त नजदीक के संयोगरूप इस शरीर के प्रति रहा है; यही कारण है कि हमारा ध्यान निरन्तर इसकी अनुकूलता बनाये रखने की ओर ही रहता है। इसके लिए हम सदा सबकुछ करने के लिए तैयार रहते हैं; अच्छे-बुरे का भी ध्यान नहीं

रखते, भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विचार नहीं करते; इसके पोषण के लिए करण-अकरणीय सबकुछ करते हैं।

इसका ध्यान रखने के लिए हमें कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ता, सदा सहजभाव से यह हमारे ध्यान का ध्येय बना रहता है।

यदि इस देह से हमारा एकत्व-ममत्व टूट जाये और अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में आ जाय तो हमारा सर्वस्व समर्पण आत्मा के प्रति होने में देर नहीं लगे।

फिर हमें आत्मा का ध्यान करने के लिए प्रयास नहीं करने पड़ेंगे; फिर तो यह भगवान आत्मा हमारे ध्यान का ध्येय सहजभाव से बनेगा। **किसी का भी ध्यान करने के लिए अभ्यास करने की जरूरत नहीं होती, जिसमें अपनापन होता है, उसका ध्यान तो सहज ही होता है।**

वस्तुतः बात यह है कि धर्म करने की वस्तु नहीं है, होने की वस्तु है। करने और होने के अन्तर को गणित की भाषा में इसप्रकार समझ सकते हैंह्न

होना+अभिमान=करना। करना-अभिमान=होना। होने में अभिमान को जोड़ देने से करना हो जाता है और करने में से अभिमान को निकाल देने से होना रह जाता है।

हम एक ही बात को दो रूपों में प्रस्तुत कर सकते हैं। एक तो वह रूप, जिसमें कदम-कदम पर अभिमान झलकता हो और दूसरा वह रूप, जिसमें अकर्त्तृत्व का भाव प्रतिबिम्बित होता हो।

बहुत से लोग कहते हैं कि हम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए क्या करें? प्रतिदिन एक-दो घंटे आत्मा का ध्यान करें। आपके यहाँ इसप्रकार का कोई प्रशिक्षण दिया जाता हो तो बतायें, हम भी उसमें शामिल हो जावें। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए हम कुछ भी करने के लिए तैयार हैं। यदि कुछ खर्च करना पड़े तो हम उसमें भी पीछे नहीं रहेंगे।

अरे, भाई ! तुम तो वह हो, जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसके जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसमें लीन होने का नाम सम्यक्चारित्र है, ध्यान है।

कर्त्तृत्व का यह तीव्रतम विकल्प, यह आकुलता-व्याकुलता ही

सम्यग्दर्शन प्राप्त होने में सबसे बड़ी बाधा है। करने-धरने के ये संकल्प-विकल्प टूटते ही सम्यग्दर्शन होने में देर नहीं लगेगी। **धर्म करने की नहीं, होने की चीज है। यदि करना ही है तो तत्त्वनिर्णय करो, तत्त्वनिर्णय करने का पुरुषार्थ करो, प्रयास करो, स्वाध्याय करो। खर्च करने से सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन पैसों से प्राप्त होनेवाली वस्तु नहीं है।**

धर्म में भावुकता के लिए कोई स्थान नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग तो एक समझने का मार्ग, ज्ञान का मार्ग है। **इसमें देह की क्रिया और रागभाव को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। यह ज्ञानमार्ग तो वीतरागी मार्ग है। यह तो सहज ज्ञाता-दृष्टा रहने रूप है।**

कुछ लोग तो अत्यन्त दीनभाव से वीतरागी भगवान से भी भोगों की भीख माँगते देखे जाते हैं; उनके सामने गिड़गिड़ाते देखे जाते हैं।

अरे, भाई ! जैनधर्म किसी के सामने गिड़गिड़ाने का धर्म नहीं है; क्योंकि जैनधर्मानुसार तो प्रत्येक आत्मा स्वयं परमात्मा है, स्वयं ज्ञान का घनपिण्ड, आनन्द का रसकंद है, अनंत शक्तियों का संग्रहालय है। ऐसा भगवान आत्मा किसी अन्य के समक्ष सुख की भीख माँगे ह्न यह शोभा नहीं देता।

यहाँ इस रहस्यपूर्णचिट्ठी में सुखी होने के उपाय के रूप में ही सविकल्प से निर्विकल्प होने की विधि बताई जा रही है।

सविकल्प से निर्विकल्प की चर्चा के संदर्भ में जो बात कही थी; उसके अन्त में कहा था कि जो ज्ञान इन्द्रियमन में प्रवर्तता था, यद्यपि वही ज्ञान अब अनुभव में प्रवर्तता है; तथापि **अनुभव में प्रवर्तित ज्ञान को अतीन्द्रिय कहते हैं।**

अब उसी बात को आगे बढ़ाते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह्न

''तथा इस स्वानुभव को मन द्वारा हुआ भी कहते हैं; क्योंकि इस अनुभव में मतिज्ञान-श्रुतज्ञान ही हैं, अन्य कोई ज्ञान नहीं है।

मति-श्रुतज्ञान इन्द्रिय-मन के अवलम्बन बिना नहीं होता, सो यहाँ इन्द्रिय का तो अभाव ही है; क्योंकि इन्द्रिय का विषय मूर्तिक पदार्थ ही है तथा यहाँ मनज्ञान है; क्योंकि मन का विषय अमूर्तिक पदार्थ भी है, इसलिए यहाँ मन-संबंधी परिणामस्वरूप में एकाग्र होकर

अन्य चिन्ता का निरोध करते हैं, इसलिए इसे मन द्वारा कहते हैं। *'एकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानम्'* ऐसा ध्यान का भी लक्षण ऐसे अनुभव दशा में सम्भव है।''

तथा समयसार नाटक के कवित्त में कहा है ह्न

वस्तु विचार ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याकौ नाम।।

इसप्रकार मन बिना जुदे ही परिणाम स्वरूप में प्रवर्त्तित नहीं हुए, इसलिए स्वानुभव को मनजनित भी कहते हैं; अत: अतीन्द्रिय कहने में और मनजनित कहने में कुछ विरोध नहीं है, विवक्षाभेद है।

तथा तुमने लिखा कि 'आत्मा अतीन्द्रिय है, इसलिए अतीन्द्रिय द्वारा ही ग्रहण किया जाता है' सो (भाईजी) मन अमूर्तिक का भी ग्रहण करता है, क्योंकि मति-श्रुतज्ञान का विषय सर्वद्रव्य कहे हैं। उक्तं च तत्त्वार्थसूत्रे ह्न *'मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।*[१]'[२]''

उक्त पंक्तियों का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''अमूर्तिक चिदानन्दस्वभाव के स्वानुभव में इन्द्रिय का तो निमित्त नहीं है; इन्द्रियाँ तो स्पर्शादि मूर्तद्रव्य के ही जानने में निमित्त हो सकती है; अमूर्त आत्मा के जानने में इन्द्रिय का अवलम्बन नहीं है। **मन अमूर्त वस्तु को भी जानता है** और मन का अवलम्बन अभी सर्वथा नहीं छूटा, क्योंकि अभी मति-श्रुतज्ञान है। अवधि या मन:पर्ययज्ञान का उपयोग स्वानुभव में नहीं होता, **स्वानुभव में मति-श्रुतज्ञानरूप उपयोग ही रहता है।** अवधि व मन:पर्ययज्ञान का विषय भी मूर्त ह्न रूपी ही गिनने में आया है, **अरूपी आत्मवस्तु का स्वानुभव तो मति-श्रुतज्ञान द्वारा ही होता है।**

मति-श्रुतज्ञान सामान्यतया इन्द्रिय व मन के द्वारा वर्तते होने से यद्यपि इन्हें परोक्ष कहा है; तथापि **स्वानुभव के काल में इन्द्रिय का अवलम्बन छूटकर एवं बुद्धिपूर्वक मन का भी अवलम्बन छूटकर अतीन्द्रिय उपयोग हो जाने से इन्हें प्रत्यक्ष भी कहते हैं।** केवलज्ञान में

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २६ २. रहस्यपूर्णचिट्ठी : मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४४

असंख्य आत्मप्रदेश जैसे प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते हैं, वैसे मति-श्रुतज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं भासते; फिर भी **स्वानुभव में मति-श्रुत को प्रत्यक्ष कहा; क्योंकि स्वानुभव के काल में उपयोग आत्मा में एकाग्र होकर, इन्द्रिय व मन के अवलम्बन के बिना अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन साक्षात् करता है। उपयोग अतीन्द्रिय हुए बिना अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन नहीं कर सकता।**

इसप्रकार स्वसंवेदन तो प्रत्यक्ष है, परन्तु केवलज्ञानी की तरह आत्मप्रदेशों का स्पष्ट प्रतिभास न होने की अपेक्षा से परोक्षपना भी है। ऐसा प्रत्यक्ष-परोक्षपना ज्ञान में लागू होता है।[१]

अवधि-मन:पर्यय व केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है; परन्तु इनमें से केवलज्ञान तो साधक के है नहीं; मन:पर्ययज्ञान किसी मुनि के ही होता है; परन्तु मन:पर्यय या अवधिज्ञान स्वानुभव के समय उपयोगरूप नहीं होता। **स्वानुभव तो मति-श्रुतज्ञान के द्वारा ही होता है। पहले ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से यथार्थ निर्णय करके, बाद में मति-श्रुत के उपयोग को बाह्य से समेटकर आत्मसन्मुख एकाग्र करने से विज्ञानघन आत्मा आनन्द सहित अनुभव में आता है। यही सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान है।**[२]

इस स्वानुभव में जो आनन्द के स्वाद का वेदन है, उसे तो अपने उपयोग से आत्मा सीधा ही अनुभवता है; उस स्वाद का वेदन आगम या अनुमान आदि परोक्षज्ञान के द्वारा नहीं करता; परन्तु अपने ही स्वानुभव प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा उसका वेदन करता है, आत्मा स्वयं अपने में उपयोग को एकाग्र करके सीधा ही इस अनुभव के रस को आस्वादता है; अतएव वह अतीन्द्रिय है। यह अनुभव इन्द्रियों से या विकल्पों से पार है।

अनुभव से बाहर आने के बाद जो विकल्प उठें, वे विकल्प भी ज्ञान से भिन्नरूप ही रहते हैं, अनुभवी धर्मात्मा को ज्ञान की व विकल्प की एकता कभी नहीं होती, उसे सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान अविच्छन्नरूप से वर्तते हैं। सम्यक्त्व की व स्वानुभव की दशा ही कोई अलौकिक है।

१. अध्यात्मसंदेश, पृष्ठ ६७-६८ २. वही, पृष्ठ ६८

इसतरह निश्चय व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप, निर्विकल्प अनुभव न हो तब भी सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन की विद्यमानता तथा स्वानुभूति के काल में मति-श्रुतज्ञान का अतीन्द्रियपना किसप्रकार है और ऐसा निर्विकल्प स्वानुभव कैसे उद्यम से होता है ह्न ये सब बात बहुत अच्छे ढंग से समझायी है।[१]''

रहस्यपूर्णचिट्ठी के उक्त कथन का भाव स्वामीजी के प्रतिपादन में बहुत कुछ स्पष्ट हो गया है। पण्डितजी का स्पष्ट मत यह है कि जिसे हम अनुभव या अनुभूति कह रहे हैं; वह एक प्रकार से ध्यान ही है; क्योंकि उसमें एकाग्रचिन्तानिरोधरूप ध्यान का लक्षण भी घटित होता है।

अपनी बात के समर्थन में वे नाटक समयसार का कवित्त भी प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि उक्त अनुभव को विभिन्न अपेक्षाओं से अतीन्द्रिय के साथ-साथ मनजनित भी कहा जा सकता है, कहा जाता है।

उक्त कथनों में विरोध नहीं, विवक्षा भेद है।

इसीप्रकार वे मुल्तानवाले साधर्मी भाइयों के इस तर्क को भी नकार देते हैं कि चूँकि आत्मा अतीन्द्रिय है; अतः वह अतीन्द्रियज्ञान द्वारा ही ग्रहण किया जाना संभव है।

पण्डितजी कहते हैं कि हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि मति-श्रुतज्ञान के विषय छहों द्रव्य और उनकी असर्वपर्यायें हैं।[२] इसलिए **भगवान आत्मा मति-श्रुतज्ञान से जाना जा सकता है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो फिर केवलज्ञान होने के पहले आत्मा का जानना संभव नहीं होगा और आत्मा को जाने बिना, उसमें अपनापन स्थापित किये बिना, उसका ध्यान किये बिना केवलज्ञान का होना संभव नहीं है।**

इसप्रकार मुक्ति का मार्ग ही पूर्णतः अवरुद्ध हो जायेगा। ●

१. अध्यात्मसंदेश, पृष्ठ ६९-७०　　　२. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र २६

उनका चित्त चन्दन के समान शीतल (शान्त) हो जाता है। उनमें दीनता नहीं रहती, वे विषय के भिखारी नहीं होते। वे अपने लक्ष्य (आत्मा) को प्राप्त कर लेने से सच्चे लक्षपति (लखपति) होते हैं। साथ ही उनके हृदय में पूर्ण आत्मस्वभाव को प्राप्त करनेवाले सर्वज्ञ वीतरागियों के प्रति अनंत भक्ति का भाव रहता है। **ह्न मैं कौन हूँ, पृष्ठ-१७-१८**

छठवाँ प्रवचन

संतप्त मानस शांत हों, जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में।।

रहस्यपूर्णचिट्ठी पर चर्चा चल रही है। विगत प्रवचनों में सविकल्प से निर्विकल्प होने की प्रक्रिया पर मंथन होने के बाद अब प्रत्यक्ष-परोक्ष संबंधी प्रश्नों पर विचार करते हैं।

उक्त संदर्भ में रहस्यपूर्णचिट्ठी में जो समाधान प्रस्तुत किया गया है, वह इसप्रकार है ह्न

''तथा तुमने प्रत्यक्ष-परोक्ष का प्रश्न लिखा सो भाईजी, प्रत्यक्ष-परोक्ष तो सम्यक्त्व के भेद हैं नहीं। चौथे गुणस्थान में सिद्धसमान क्षायिकसम्यक्त्व हो जाता है; इसलिए सम्यक्त्व तो केवल यथार्थ श्रद्धानरूप ही है। वह (जीव) शुभाशुभ कार्य करता भी रहता है। इसलिए तुमने जो लिखा था कि *ह्न निश्चयसम्यक्त्व प्रत्यक्ष है और व्यवहारसम्यक्त्व परोक्ष है* ह्न सो ऐसा नहीं है।

सम्यक्त्व के तो तीन भेद हैं ह्न वहाँ उपशमसम्यक्त्व और क्षायिक-सम्यक्त्व तो निर्मल हैं; क्योंकि वे मिथ्यात्व के उदय से रहित हैं और क्षयोपशमसम्यक्त्व समल है; क्योंकि सम्यक्त्वमोहनीय के उदय से सहित है।

परन्तु इस सम्यक्त्व में प्रत्यक्ष-परोक्ष के कोई भेद तो नहीं हैं।

क्षायिकसम्यक्त्वी के शुभाशुभरूप प्रवर्तते हुए व स्वानुभवरूप प्रवर्त्तते हुए सम्यक्त्वगुण तो समान ही है; इसलिए सम्यक्त्व के तो प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद नहीं मानना।

तथा प्रमाण के प्रत्यक्ष-परोक्ष भेद हैं, सो प्रमाण सम्यग्ज्ञान है; इसलिए मतिज्ञान-श्रुतज्ञान तो परोक्षप्रमाण हैं, अवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। *'आद्ये परोक्षं, प्रत्यक्षमन्यत्*[१]*'* ऐसा सूत्र

१. तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र ११-१२

का वचन है तथा तर्कशास्त्र में प्रत्यक्ष-परोक्ष का ऐसा लक्षण कहा है ह्न *'स्पष्टप्रतिभासात्मकं प्रत्यक्षमस्पष्टं परोक्षं।'*

जो ज्ञान अपने विषय को निर्मलतारूप स्पष्टतया भलीभाँति जाने सो प्रत्यक्ष और जो स्पष्ट भलीभाँति न जाने सो परोक्ष।

वहाँ मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के विषय तो बहुत हैं, परन्तु एक भी ज्ञेय को सम्पूर्ण नहीं जान सकता; इसलिए परोक्ष कहे और अवधि-मन:पर्ययज्ञान के विषय थोड़े हैं; तथापि अपने विषय को स्पष्ट भलीभाँति जानता है; इसलिए एकदेश प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान सर्व ज्ञेय को आप स्पष्ट जानता है; इसलिए सर्वप्रत्यक्ष है।

तथा प्रत्यक्ष के दो भेद हैं ह्न एक परमार्थ प्रत्यक्ष, दूसरा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष। वहाँ अवधि, मन:पर्यय और केवलज्ञान तो स्पष्ट प्रतिभासरूप हैं ही, इसलिए पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं तथा नेत्रादिक से वर्णादिक को जानते हैं; वहाँ व्यवहार से ऐसा कहते हैं ह्न 'इसने वर्णादिक प्रत्यक्ष जाने', एकदेश निर्मलता भी पाई जाती है, इसलिए इनको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं; परन्तु यदि एक वस्तु में अनेक मिश्र वर्ण हैं, वे नेत्र द्वारा भलीभाँति नहीं ग्रहण किये जाते हैं, इसलिए इसको परमार्थप्रत्यक्ष नहीं कहा जाता है।

तथा परोक्ष प्रमाण के पाँच भेद हैं ह्न स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम।

वहाँ जो पूर्व काल में जो वस्तु जानी थी; उसे याद करके जानना, उसे स्मृति कहते हैं। दृष्टांत द्वारा वस्तु का निश्चय किया जाये उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। हेतु के विचार युक्त जो ज्ञान, उसे तर्क कहते हैं। हेतु से साध्य वस्तु का जो ज्ञान उसे अनुमान कहते हैं। आगम से जो ज्ञान हो, उसे आगम कहते हैं।

ऐसे प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण के भेद कहे हैं।

वहाँ इस स्वानुभवदशा में जो आत्मा को जाना जाता है, सो श्रुतज्ञान द्वारा जाना जाता है। श्रुतज्ञान है वह मतिज्ञानपूर्वक ही है, वे मतिज्ञान-श्रुतज्ञान परोक्ष कहे हैं; इसलिए यहाँ आत्मा का जानना

प्रत्यक्ष नहीं है। तथा अवधि-मन:पर्यय का विषय रूपी पदार्थ ही है और केवज्ञान छद्मस्थ के हैं नहीं, इसलिए अनुभव में अवधि-मन:पर्यय केवल द्वारा आत्मा का जानना नहीं है। तथा यहाँ आत्मा को स्पष्ट भलीभाँति नहीं जानता है; इसलिए पारमार्थिक प्रत्यक्षपना तो सम्भव नहीं है।

तथा जैसे नेत्रादिक से वर्णादिक जानते हैं, वैसे एकदेश निर्मलता सहित भी आत्मा के असंख्यात प्रदेशादिक नहीं जानते हैं; इसलिए सांव्यवहारिक प्रत्यक्षपना भी सम्भव नहीं है।

यहाँ पर तो आगम-अनुमानादिक परोक्ष ज्ञान से आत्मा का अनुभव होता है। जैनागम में जैसा आत्मा का स्वरूप कहा है, उसे वैसा जानकर उसमें परिणामों को मग्न करता है; इसलिए आगम को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

अथवा ''मैं आत्मा ही हूँ, क्योंकि मुझमें ज्ञान है; जहाँ-जहाँ ज्ञान है, वहाँ-वहाँ आत्मा है ह्न जैसे सिद्धादिक हैं तथा जहाँ आत्मा नहीं है, वहाँ ज्ञान भी नहीं है ह्न जैसे मृतक कलेवरादिक हैं।' इसप्रकार अनुमान द्वारा वस्तु का निश्चय करके उसमें परिणाम मग्न करता है; इसलिए अनुमान परोक्ष प्रमाण कहा जाता है।

अथवा आगम-अनुमानादिक द्वारा जो वस्तु जानने में आयी, उसी को याद रखकर उसमें परिणाम मग्न करता है; इसलिए स्मृति कही जाती है।

इत्यादिक प्रकार से स्वानुभव में परोक्षप्रमाण द्वारा ही आत्मा का जानना होता है। वहाँ पहले जानना होता है, पश्चात् जो स्वरूप जाना उसी में परिणाम मग्न होते हैं, परिणाम मग्न होने पर कुछ विशेष जानपना होता नहीं है।[१]''

उक्त प्रकरण का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''सम्यग्दर्शन के प्रत्यक्ष-परोक्ष के बारे में आपने लिखा, परन्तु ऐसा

१. रहस्यपूर्णचिट्ठी : मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४४-३४६

भेद सम्यक्त्व में नहीं है। सम्यक्त्व तो शुद्ध आत्मा की प्रतीतिरूप है, यह प्रतीति सिद्ध भगवान को व तिर्यंच सम्यग्दृष्टि को एक-सी ही है।

जैसी शुद्धात्मा की प्रतीति सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व में है, चौथै गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि को भी वैसी ही शुद्धात्मा की प्रतीति है, उसमें कुछ भी फर्क नहीं। सिद्ध भगवान का सम्यक्त्व प्रत्यक्ष व चौथे गुणस्थानवाले का सम्यक्त्व परोक्ष ह्न ऐसा भेद नहीं है।

अथवा स्वानुभव के समय सम्यक्त्व प्रत्यक्ष और बाहर में शुभाशुभ उपयोग के समय सम्यक्त्व परोक्ष ह्न ऐसा भी नहीं है। चाहे शुभाशुभ में प्रवर्तता हो या स्वानुभव के द्वारा शुद्धोपयोग में प्रवर्त्तता हो, सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व तो सामान्य वैसा का वैसा ही है अर्थात् **शुभाशुभ के समय सम्यक्त्व में कोई मलिनता आ गई और स्वानुभव के समय सम्यक्त्व में कोई निर्मलता बढ़ गई ह्न ऐसा नहीं है।**[१]

एक बार भी स्वानुभूति के द्वारा जिसने शुद्धात्मा की प्रतीति की, उसको सम्यग्दर्शन हुआ सो हुआ, बाद में जब वह स्वानुभव में हो, तब उसकी प्रतीति का जोर बढ़ जाय और जब बाहर शुभाशुभ में हो, तब उसकी प्रतीति ढीली पड़ जाय ह्न ऐसा नहीं है एवं **निर्विकल्प दशा के समय सम्यक्त्व प्रत्यक्ष व सविकल्प दशा के समय सम्यक्त्व परोक्ष ह्न ऐसा प्रत्यक्ष-परोक्षपना भी सम्यक्त्व में नहीं है अथवा निर्विकल्पदशा के समय निश्चयसम्यक्त्व व सविकल्प दशा के समय अकेला व्यवहार सम्यक्त्व ह्न ऐसा भी नहीं है।**

धर्मी को सविकल्पदशा हो या निर्विकल्प दशा ह्न दोनों समय में शुद्धात्मा की प्रतीतिरूप निश्चयसम्यक्त्व तो सतत् रूप से बना रहता है। यदि निश्चयसम्यक्त्व न हो तो साधकपना ही न रहे, मोक्षमार्ग ही न रहे। हाँ, निश्चयसम्यक्त्व में भले किसी को औपशमिक हो, किसी को क्षायोपशमिक हो और किसी को क्षायिक हो; लेकिन शुद्धात्मा की प्रतीति तो तीनों में एक सी है।[२]

१. अध्यात्म संदेश, पृष्ठ ७२-७३
२. वही, पृष्ठ ७४-७५

इसप्रकार अनुमान व नय-प्रमाणादिक के विचार तत्त्वनिर्णय के काल में होते हैं; परन्तु **मात्र विचार से ही स्वानुभव नहीं हो जाता।**

वस्तुस्वरूप का निर्णय करके बाद में जब स्वद्रव्य में परिणाम को एकाग्र करे, तभी स्वानुभव होता है। इस स्वानुभव के काल में नय-प्रमाणादि के विचार नहीं रहते। नय-प्रमाणादि के विचार तो परोक्षज्ञान हैं और स्वानुभव तो कथंचित् प्रत्यक्ष है।

पहले आगम-अनुमान आदि परोक्षज्ञान से जिस स्वरूप को जाना एवं विचार में लिया, उसमें परिणाम एकाग्र होने पर स्वानुभव प्रत्यक्ष होता है।

इस स्वानुभव में पहले से अन्य कोई स्वरूप जानने में आया ह्न ऐसा नहीं है; अत: ज्ञान के स्वानुभव में जानपने की अपेक्षा से विशेषता नहीं है, परन्तु परिणाम की मग्नता है ह्न यही विशेषता है।[१]

जिसने पहले एक बार अनुभव के द्वारा स्वरूप को जान लिया हो, इसकी धारणा टिकायी हो; वह फिर से इसका स्मरण करे ह्न **'पहले आत्मा का अनुभव हुआ, तब ऐसा आनन्द था, ऐसी शान्ति थी, ऐसा ज्ञान था, ऐसा वैराग्यभाव था, ऐसी एकाग्रता थी, ऐसा उद्यम था ह्न ऐसे इसके स्मरण के द्वारा चित्त को एकाग्र करके धर्मी जीव फिर से उसमें अपने परिणाम को लगाते हैं।**[२]

मति-श्रुतज्ञान ने आत्मा का जो स्वरूप जाना, उसमें ही वह मग्न होता है; इसमें जानपने की अपेक्षा से फर्क नहीं है, परन्तु परिणाम की मग्नता की अपेक्षा से फर्क है।

मति-श्रुतज्ञान का उपयोग अन्तर्मुख होकर जब स्वानुभव करता है; तब उस निर्विकल्पदशा में कोई अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। जानपने की अपेक्षा भले ही वहाँ विशेषता न हो, किन्तु आनन्द के अनुभव आदि की अपेक्षा से उसमें जो विशेषता है, वह अब प्रश्न-उत्तर के द्वारा दर्शाते हैं।[३]''

१. अध्यात्म संदेश, पृष्ठ ८६
२. वही, पृष्ठ ८७
३. वही, पृष्ठ ८७

उक्त सम्पूर्ण मंथन पर विचार करने पर जो वस्तुस्वरूप स्पष्टरूप से उभरकर सामने आता है; उसे हम सरल–सुबोध भाषा में इसप्रकार स्पष्ट कर सकते हैं।

पण्डित श्री टोडरमलजी ने जिस पत्र के उत्तर में यह रहस्यपूर्णचिट्ठी लिखी थी; यद्यपि वह पत्र उपलब्ध नहीं है; तथापि पण्डितजी के इस वाक्य से कि ह्न **तुमने लिखा कि निश्चयसम्यक्त्व प्रत्यक्ष है और व्यवहारसम्यक्त्व परोक्ष है ह्न** यह स्पष्ट ही है कि उन्होंने सम्यग्दर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद किये थे।

इसलिए उनको अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा गया कि प्रत्यक्ष और परोक्ष तो प्रमाण के भेद हैं, सम्यग्दर्शन के नहीं।

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।[१] प्रमाण सम्यग्ज्ञानरूप होने से ज्ञान गुण की पर्याय है और सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की पर्याय है।

सामान्यत: ज्ञान पाँच प्रकार का होता है ह्न मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। उक्त पाँच ज्ञानों में आरंभ के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ह्न ये दो ज्ञान परोक्षप्रमाण हैं और अन्त के तीन अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण हैं।

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान क्षयोपशमज्ञानरूप होने से एकदेश प्रत्यक्ष और केवलज्ञान क्षायिकज्ञानरूप होने से सकल प्रत्यक्ष है।

सीधे आत्मा से उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण और मुख्यरूप से इन्द्रियाँ और मन हैं निमित्त जिसमें, ऐसे पराधीन और अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

परीक्षामुख सूत्र में विशद (निर्मल) ज्ञान को प्रत्यक्ष और अविशद (अनिर्मल) ज्ञान को परोक्ष कहा गया है।[२]

प्रत्यक्ष ज्ञान के परमार्थ (निश्चय) प्रत्यक्ष और व्यवहार प्रत्यक्ष ह्न इसप्रकार के भेद भी किये जाते हैं।

अक्षं अक्षं प्रति यत् वर्तते तत्प्रत्यक्षम्। जो अक्ष से उत्पन्न हो, उसे

१. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम् : न्यायदीपिका, प्रथम प्रकाश, पृष्ठ ९
२. परीक्षामुख, अध्याय २, सूत्र ३ एवं अध्याय ३, सूत्र १

प्रत्यक्ष कहते हैं। अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा भी होता है और इन्द्रियाँ भी होता है। अत: जब हम अक्ष का अर्थ आत्मा करते हैं तो उसका भाव होता है कि जो सीधा आत्मा से उत्पन्न हो, वह प्रत्यक्ष है; पर जब अक्ष का अर्थ इन्द्रियाँ करें तो उसका अर्थ होगा कि जो ज्ञान इन्द्रियों के सहयोग से उत्पन्न हो, वह प्रत्यक्ष है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि सीधे आत्मा से उत्पन्न होनेवाले सम्यग्ज्ञान को पारमार्थिक (निश्चय) प्रत्यक्ष कहते हैं और इन्द्रियों के निमित्तपूर्वक होनेवाले सामान्यज्ञान को, इन्द्रियज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माने वास्तविक प्रत्यक्ष नहीं, जिसे लोक व्यवहार में प्रत्यक्ष कहा जाता है, वह। दुनिया में लोग कहते हैं कि मैंने उसे प्रत्यक्ष देखा, अपनी आँखों से देखा। ऐसा कहते हैं कि मैंने उसे ऐसा कहते अपने कानों से सुना है, मैंने वह वस्तु चखकर देखी है; अरे, भाई ! जब तूने आँख से देखा, कान से सुना, जीव से चखा; तो वह ज्ञान पराधीन हो गया, इन्द्रियाधीन हो गया; इसलिए परोक्ष ही हो गया न; क्योंकि पराधीन ज्ञान को ही तो परोक्ष कहते हैं।

अन्य लौकिक ज्ञान की अपेक्षा इसमें कुछ विशेष स्पष्टता होने से परोक्ष होने पर भी इसे व्यवहार में प्रत्यक्ष कह देते हैं। इसका ही नाम शास्त्रों में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है।

इसके अतिरिक्त एक अनुभव प्रत्यक्ष भी होता है।

यहाँ प्रश्न यह है कि अनुभव के काल में आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है या परोक्ष। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो वह कौन सा प्रत्यक्ष है ह्न पारमार्थिक प्रत्यक्ष या सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष।

परोक्ष प्रमाण मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से ६ प्रकार का है। आगम प्रमाण श्रुतज्ञानरूप है और शेष पाँच प्रमाण मतिज्ञानरूप हैं; क्योंकि उन सभी में मतिज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम निमित्त होता है।

मति, स्मृति आदि का स्वरूप मूल में ही स्पष्ट किया जा चुका है।

केवलज्ञानरूप पारमार्थिक प्रत्यक्ष तो आत्मानुभव करनेवाले आत्मार्थी को अभी है नहीं; हो नहीं सकता और अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान कदाचित् किसी चतुर्थकालीन भावलिंगी संत को हो तो भी उन अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान के विषय रूपी पदार्थ हैं, पर के मन में स्थित विकल्प हैं; अत: अनुभव प्रत्यक्ष में उनका भी कोई उपयोग संभव नहीं है।

अब मात्र मतिज्ञान और श्रुतज्ञान रहते हैं। भगवान आत्मा का अनुभव करने में मात्र वे ही उपयोगी हैं; पर उन्हें महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में अत्यन्त स्पष्टरूप से परोक्ष कहा है। अत: एक अपेक्षा तो यह है कि **आत्मानुभव मूलत: परोक्ष ही है।**

उक्त तथ्य को प्रस्तुत करते हुए पण्डित टोडरमलजी ने अनुभवप्रत्यक्ष के संदर्भ में संतुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

मुख्यरूप से पाँच प्रकार के ज्ञानों में प्रत्यक्ष-परोक्ष का बंटवारा सैद्धान्तिक ग्रन्थों में; प्रत्यक्षप्रमाण में पारमार्थिक प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष संबंधी बंटवारा तथा परोक्षप्रमाण में मति, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम संबंधी बंटवारा न्याय ग्रन्थों में तथा अनुभव प्रत्यक्ष संबंधी उल्लेख मुख्यरूप से अध्यात्म ग्रन्थों में पाया जाता है।

ध्यान रहे न्यायशास्त्र में स्वमतमण्डन और परमतखण्डन की, अध्यात्मशास्त्रों में आत्महित की एवं सिद्धान्तशास्त्रों में वस्तुस्वरूप प्रतिपादन की मुख्यता रहती है।

सिद्धान्तशास्त्र संबंधी कथनशैली, न्यायशास्त्र संबंधी कथनशैली और आध्यात्मिक कथनशैली में जो मूलभूत अन्तर होता है, उसके परिणाम स्वरूप ही यह अन्तर दिखाई देता है।

स्वानुभवदशा में जो ज्ञान आत्मा को जानता है; वह ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण में आता है कि परोक्षप्रमाण में ? प्रश्न मूलत: यह है।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का कहना यह है कि क्षयोपशम ज्ञानवाले छद्मस्थ जीवों को जो आत्मानुभव होता है, वह मति-श्रुतज्ञान में ही होता है तथा मति-श्रुतज्ञान परोक्ष हैं। अत: वह अनुभव परोक्षप्रमाण में ही आता है; तथापि अध्यात्मशास्त्रों में आत्मानुभूति को अनुभवप्रत्यक्ष कहा गया है।

उक्त संदर्भ में रहस्यपूर्णचिट्ठी में जो समाधान सप्रमाण प्रस्तुत किया गया है; उसका संक्षिप्त सार इसप्रकार है ह्न

सबसे पहली बात तो यह है कि स्वानुभवदशा में आत्मा का जानना श्रुतज्ञान में होता है और श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं; इसलिए आत्मानुभव प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष ही है।

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान मात्र रूपी पदार्थों को ही जानते हैं और केवलज्ञान छद्मस्थों को होता नहीं; इसलिए अनुभव में प्रयुक्त ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

अनुभव में प्रयुक्त ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता; क्योंकि सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में जैसे नेत्रादिक से साफ-साफ दिखाई देता है; अनुभवज्ञान में आत्मा के असंख्य प्रदेश, अनंत गुण एवं आकार-प्रकार वैसे साफ-साफ दिखाई नहीं देते।

तात्पर्य यह है कि पाँच इन्द्रियों के निमित्त से होनेवाले ज्ञान में जितनी व जैसी स्पष्टता, निर्मलता पाई जाती है; वैसी व उतनी भी स्पष्टता आत्मानुभूति के काल में आत्मा को जानने में नहीं होती।

अरे, भाई ! मुझे अपना चेहरा एकदम जैसा साफ-साफ दिखाई दे रहा है; अनुभव के काल में यह भगवान आत्मा वैसा साफ-साफ दिखाई नहीं देता। इसलिए इसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी नहीं कह सकते।

लोग कहते हैं कि आज मुझे अनुभव में आत्मा एकदम साफ-साफ दिखाई दिया, एकदम जगमगाता हुआ, प्रकाशमय जगमगज्योतिवाला।

शास्त्र कहते हैं कि आत्मा साफ-साफ दिखाई नहीं देता, पर यह कहता है कि इसे आत्मा साफ-साफ दिखाई दिया। आत्मा में नेत्र इन्द्रिय से पकड़ में आनेवाला पौद्‌गलिक प्रकाश नहीं होता और इसे आत्मा सूर्य जैसा जगमगाता दिखाई देता है।

क्या कहें ऐसे लोगों के लिए ? इन लोगों के विकल्पात्मक ज्ञान में भी अभी आत्मा का स्वरूप स्पष्ट नहीं है तो फिर निर्विकल्पक अनुभव की बात ही क्या करें ?

आत्मा का अनुभव किसप्रकार होता है ह्न यह बात स्पष्ट करते हुए रहस्यपूर्णचिट्ठी में तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि जैनागम में आत्मा का स्वरूप जैसा कहा है; उसे वैसा जानकर, उसमें परिणामों को मग्न करता है; इसलिए यह आगमज्ञान परोक्ष प्रमाण हुआ।

ध्यान रहे इसमें भी आत्मा ज्ञान में साक्षात् ज्ञात नहीं हुआ है; अपितु शास्त्रों को पढ़कर, गुरुमुख से सुनकर आत्मस्वरूप समझा है और उसमें अपने परिणामों को मग्न किया है।

''मैं आत्मा हूँ; क्योंकि मुझमें ज्ञान है। जहाँ-जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ-वहाँ आत्मा होता है; जैसे सिद्धादिक। जहाँ-जहाँ आत्मा नहीं है, वहाँ-वहाँ ज्ञान भी नहीं है; जैसे मुर्दा।''

ह्न इसप्रकार अनुमान द्वारा वस्तु का निश्चय करके उसमें परिणाम मग्न करता है; इसलिए यह अनुमानरूप परोक्षप्रमाण हुआ। इसमें भी तर्क से युक्ति से आत्मस्वरूप का अनुमान किया गया है, आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं जाना है।

आगम-अनुमानादिक द्वारा जो आत्मा जानने में आया; कालान्तर में उसे याद रखकर, उसमें परिणाम मग्न करता है; इसलिए यह स्मृतिरूप परोक्षप्रमाण हुआ।

इस स्मृति प्रमाण में भी वही आगमज्ञान और अनुमान ज्ञान काम आ रहा है; जो पहले कभी किया गया था और धारणा में विद्यमान था। इसलिए यह भी एक प्रकार से आगमज्ञान और अनुमानज्ञान ही है। गुरुमुख से सुनकर प्राप्त हुआ ज्ञान भी आगमज्ञान में शामिल है।

यह स्मृति इसी भव में किये अध्ययन से, श्रवण से उत्पन्न धारणा की भी हो सकती है और विगत भवों में किये गये अध्ययन-श्रवण से उत्पन्न धारणा की भी हो सकती है।

विगत भव में प्राप्त धारणा की स्मृति को जातिस्मरण कहते हैं; पर दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों स्मृति ही हैं। यदि भेद करना ही हो तो वर्तमान भव में प्राप्त ज्ञान को ही प्रमुखता प्राप्त होगी; पर यह भोला जगत विगत भव की स्मृति से अधिक महिमावंत होता है।

इस स्मृति प्रमाण में भी धारणा में विद्यमान आत्मवस्तुरूप ज्ञेय का स्मरण किया गया है, आत्मा के साक्षात् दर्शन नहीं हुए हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि **अनुभव में आगम, युक्ति, अनुमान, स्मृति आदि परोक्षप्रमाणों द्वारा ही आत्मा का जानना होता है; इसलिए अनुभव मूलतः तो परोक्षप्रमाण ही है।**

यद्यपि अनुभव ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने आगम के सेवन, युक्ति के अवलम्बन और परम्परा गुरु से प्राप्त आत्मज्ञान को अनुभूति से प्रमाणित करने का आदेश दिया है[१]; तथापि आगम, युक्ति और गुरूपदेश की उपेक्षा उचित नहीं है।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी तो यहाँ तक कहते हैं कि **स्वानुभव में परोक्षप्रमाण द्वारा ही आत्मा का जानना होता है। वहाँ पहले जानना होता है; पश्चात् जो स्वरूप जाना, उसी में परिणाम मग्न होते हैं, परिणाम मग्न होने पर कुछ विशेष जानपना नहीं होता।**

उक्त कथन में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में दो बातों को प्रस्तुत किया है। पहली बात तो यह है कि अनुभव मूलतः परोक्षप्रमाण ही है और दूसरी बात यह है कि अनुभव में कुछ विशेष नया ज्ञेय जानने में नहीं आता।

तात्पर्य यह है कि करणलब्धि में प्रवेश के पूर्व जो ज्ञान आगम के सेवन, युक्ति के अवलम्बन और गुरु के उपदेश से प्राप्त हुआ था; आत्मानुभूति में उससे कुछ नया जानना नहीं होता।

इसका स्पष्ट अर्थ यह भी है कि आत्मानुभूति के पहले या बाद में लेखक और प्रवक्ताओं द्वारा जो भी प्रतिपादन होता है; वह सब सर्वज्ञ की वाणी की अनुसार लिखे गये आगमज्ञान के अनुसार ही होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्महित में अनुभव की और जिनवाणी की सुरक्षा में आगमज्ञान की मुख्यता है। तात्पर्य यह है कि आत्महित के

१. समयसार गाथा ५ और उसकी आत्मख्याति टीका

लिए आगम, अनुमान और परम्परागुरु के उपदेश से प्राप्त ज्ञान को अनुभव से प्रमाणित करना चाहिए; परन्तु अनुभवजन्य ज्ञान को भी जगत के समक्ष प्रस्तुत करते समय आगम के आधार पर सप्रमाण प्रस्तुत करना चाहिए, प्रबल युक्तियों से उसका समर्थन करना चाहिए, उपयुक्त उदाहरणों के माध्यम से वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करना चाहिए। यही राजमार्ग है।

स्वयं के अनुभव को प्रमाण के रूप में प्रस्तुत करना सहज स्वीकृति के लिए उपयुक्त नहीं है।

आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि में कहते हैं कि वस्तुस्वरूप का निर्णय आगम और युक्ति से होता है।[१] शास्त्रों का अध्ययन और ज्ञानी धर्मात्माओं से श्रवण ह्न ये दोनों ही बातें आगम में आ जाती हैं और प्रमाण और नय युक्ति में आ जाते हैं; तर्क और अनुमान भी युक्ति में समाहित हो जाते हैं।

अध्ययन और श्रवण में मूलभूत अन्तर यह है कि **ज्ञानियों से तत्त्व श्रवण उतना सुलभ नहीं है कि जितना शास्त्रों के अध्ययन से तत्त्व को समझना है; क्योंकि शास्त्र हमें सभी जगह सहज सुलभ हैं।**

यदि हम अपने घर में रात को २ बजे पढ़ना चाहते हैं तो पढ़ सकते हैं; पर ज्ञानी गुरु चाहे जहाँ, चाहे जब उपलब्ध नहीं हो सकते। वे तो एक सुनिश्चित समय पर, सुनिश्चित स्थान पर ही उपलब्ध हो सकते हैं। यही कारण है कि प्रवचनसार में जिनवाणी को नित्यबोधक कहा है।

गुरुजी के समझाते समय यदि तुम्हारा उपयोग भ्रष्ट हो गया या तुम देर से पहुँचे तो फिर तुम्हें वह बात दुबारा सुनने को मिलना सहज नहीं है; पर शास्त्रों को बार-बार पढ़ने की सुविधा सभी को सहज उपलब्ध है। प्रात: पढ़ो, सायं को पढ़ो, दिन में पढ़ो, रात में पढ़ो, जब चाहो तब पढ़ो; मंदिर में पढ़ो, घर पर पढ़ो, रेल में पढ़ो, बस में पढ़ो, हवाई जहाज में पढ़ो; जहाँ चाहो, वहाँ पढ़ो।

इतना सबकुछ होने पर भी जिनवाणी की बात इकतरफी बात है, वनवे ट्रेफिक है। शास्त्रों को आप पढ़ तो सकते हैं, पर उनसे प्रश्न नहीं

१. सर्वार्थसिद्धि : अध्याय ९, सूत्र १९ की टीका

कर सकते, कुछ पूछ नहीं सकते; पर ज्ञानी गुरुओं से विनयपूर्वक प्रश्न करना संभव है, पूछना संभव है।

तथा ज्ञानी गुरु सबकुछ जबान से ही तो नहीं कहते, अपनी आँखों से भी बहुत कुछ कहते हैं; उनके चेहरे के हावभावों से भी बहुत कुछ स्पष्ट होता है; उनके जीवन से भी हमें बहुत कुछ सीखने को मिलता है।

यह बात शास्त्रों के अध्ययन में नहीं मिलेगी; पर **शास्त्रों ने क्षेत्र व काल की दूरी समाप्त कर दी है। हम हजारों वर्ष पहले हुए आचार्यों की बात समझ सकते हैं; हजारों मील दूर बैठे ज्ञानी गुरुओं को भी पढ़ सकते हैं, पर यदि ज्ञानी पुरुषों से कुछ सुनना-समझना है, प्रश्न करना है तो हमें भी वहीं होना चाहिए, जहाँ वे हैं; उसी समय उपस्थित होना चाहिए, जब वे समझा रहे हों। श्रवण को क्षेत्र और काल की दूरी बरदाश्त नहीं है।**

वस्तुत: बात यह है कि अध्ययन और श्रवण ह्न ये दोनों एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, पूरक हैं।

इसलिए हमें अध्ययन और श्रवण ह्न दोनों का लाभ लेना चाहिए। दोनों में से किसी की भी उपेक्षा उचित नहीं है।

अत: ऐसी बातें करना समझदारी का काम नहीं है कि जब हमें सद्गुरु का समागम उपलब्ध है तो हम अध्ययन के चक्कर में क्यों पड़े अथवा जब शास्त्रों में सबकुछ है तो फिर गुरुओं के समागम का आग्रह क्यों रखें ?

जिसप्रकार लोक में किसी भी विषय के विशेषज्ञ बनने की चाह रखनेवाले छात्र गुरुओं से अध्ययन के लिए महाविद्यालय में पढ़ने भी जाते हैं और संबंधित पुस्तकों का गहराई से अध्ययन भी करते हैं।

उसीप्रकार आत्मोपलब्धि की भावनावाले आत्मार्थी भाई-बहिनों को आत्मस्वरूप के निरूपक शास्त्रों का गहरा अध्ययन भी करना चाहिए और उसके मर्म को ज्ञानी गुरुओं के मुख से भी सुनना चाहिए।

ज्ञानी गुरुओं से आवश्यक प्रश्नोत्तर भी करना चाहिए, अध्ययन-श्रवण में उठने वाली शंकाओं का समाधान भी प्राप्त करना चाहिए।

अध्ययन और श्रवण के बाद चिन्तन की बात आती है; अध्ययन और श्रवण तो आगम के सेवन में आते हैं और **युक्ति के अवलम्बन में चिन्तन-मनन की मुख्यता होती है, तर्क-वितर्क की बात होती है, व्याप्ति ज्ञानपूर्वक अनुमान की बात होती है।**

इसप्रकार आगम और युक्ति से एकदम सही रूप में तत्त्वनिर्णय हो जाने के बाद अनुभव से प्रमाणित करने की बात आती है, आत्मानुभव होता है। सम्यग्दर्शन या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करने की यही प्रक्रिया है, एकमात्र यही विधि है।

यहाँ यह भी विशेष ध्यान रखने की बात है कि तत्त्वसंबंधी विषयों का अध्ययन, श्रवण, चिन्तन, मनन तो बुद्धिपूर्वक करने की चीज है और अनुभव तो भगवान आत्मा का सही स्वरूप समझ में आ जाने के बाद, उसमें अपनेपन के भाव का अति तीव्र होने से अपने आप होने की चीज है; क्योंकि **अनुभव करने के विकल्पों से अनुभव नहीं होता; अपितु इन विकल्पों से पार हो जाने के बाद ही अनुभव होता है।**

अब पण्डितजी इसी बात को प्रश्नोत्तरों के माध्यम से आगे बढ़ाते हुए वस्तुस्थिति स्पष्ट करते हैं ह्न

''यहाँ फिर प्रश्न ह्न यदि सविकल्प-निर्विकल्प में जानने का विशेष नहीं है तो अधिक आनन्द कैसे होता है ?

उसका समाधान ह्न सविकल्प दशा में ज्ञान अनेक ज्ञेयों को जाननेरूप प्रवर्त्तता था, निर्विकल्पदशा में केवल आत्मा का ही जानना है; एक तो यह विशेषता है।

दूसरी विशेषता यह है कि जो परिणाम नाना विकल्पों में परिणमित होता था, वह केवल स्वरूप ही से तादात्म्यरूप होकर प्रवृत्त हुआ; दूसरी यह विशेषता हुई।

ऐसी विशेषताएँ होने पर कोई वचनातीत ऐसा अपूर्व आनन्द होता है जो कि विषय सेवन में उसकी जाति का अंश भी नहीं है, इसलिए उस आनन्द को अतीन्द्रिय कहते हैं।[१]''

१. रहस्यपूर्णचिट्ठी : मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४६

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी उक्त कथन के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''धर्मी जीव सविकल्पदशा के समय में आत्मा का स्वरूप जैसा जानता था, निर्विकल्पदशा के समय में भी वैसा ही जानता है, निर्विकल्प दशा में कोई विशेष प्रकार जाना ह्न ऐसी विशेषता नहीं है, फिर भी सविकल्प से निर्विकल्पदशा की बहुत महिमा की गई है ह्न इसका कारण क्या ? इसमें ऐसी कौनसी विशेषता है कि स्वानुभव की इतनी भारी महिमा शास्त्रों ने गायी है ? यह बात यहाँ दिखाना है।[१]

यद्यपि जितनी वीतरागता हुई है, उतना आत्मिक सुख तो सविकल्प दशा के समय में भी धर्मी को वर्त रहा है; तथापि निर्विकल्पदशा के समय में उपयोग निजस्वरूप में तन्मय होकर जिस अतीन्द्रिय परम आनन्द का वेदन करता है, उसकी कोई खास विशेषता है। अहा ! स्वानुभव का आनन्द क्या चीज है, इसकी अज्ञानी को कल्पना भी नहीं आ सकती। जिसने अतीन्द्रिय चैतन्य को कभी देखा नहीं, जिसने इन्द्रिय-विषयों में ही आनन्द मान रखा है, उसको स्वानुभव के अतीन्द्रिय आनन्द का आभास भी कहाँ से हो सकता है ?

अरे, ऐसे स्वानुभव के आनन्द की चर्चा भी जीव को दुर्लभ है। जिसने अपने ज्ञान को बाह्य-इन्द्रियविषयों में ही भ्रमाया है, कभी ज्ञानी को अन्तर्मुख करके अतीन्द्रिय वस्तु को लक्षगत नहीं किया है, उसे उस अतीन्द्रिय वस्तु के अतीन्द्रिय सुख का अनुमान भी नहीं हो सकता।[२]

शंका ह्न हम तो गृहस्थ हैं; गृहस्थ को ऐसी स्वानुभव की बात कैसे समझ में आये ?

समाधान ह्न भाई ! स्वानुभव की यह चिट्ठी लिखनेवाले खुद भी गृहस्थ ही थे और जिनके लिए यह चिट्ठी लिखी गई है, वे भी गृहस्थ ही थे; अतः गृहस्थों को समझ में आये, ऐसी यह बात है।[३]

सम्यग्दर्शन होने के बाद धर्मी का उपयोग कभी स्व में रहता है, कभी पर में रहता है; सततरूप में स्व में उपयोग नहीं रहता; परन्तु सम्यक्त्व तो

१. अध्यात्मसंदेश, पृष्ठ ८८ २. वही, पृष्ठ ८९ ३. वही, पृष्ठ ८९-९०

सततरूप से रहता है। वह सम्यक्त्व स्व-उपयोग के समय प्रत्यक्ष व पर-उपयोग के समय परोक्ष ह्न ऐसा भेद नहीं है अथवा वह सम्यक्त्व स्वानुभव के वक्त उपयोगरूप व परलक्ष के वक्त लब्धिरूप ह्न ऐसा भेद भी सम्यक्त्व में नहीं है। सम्यक्त्व में तो औपशमिकादि प्रकार हैं और वे तीनों ही प्रकार सविकल्पदशा के समय में भी होते हैं। **सम्यग्दर्शन होने से जितनी शुद्ध परिणति हुई, वह तो शुभ-अशुभ के काल में भी धर्मी को चल ही रही है।**

सम्यग्दर्शन हुआ, तब से वह जीव सदैव निर्विकल्प-अनुभूति में ही रहा करे ह्न ऐसा नहीं है। उसको शुद्धात्मप्रतीति सदैव रहती है, परंतु अनुभूति तो कभी किसी समय होती है। मुनि को भी निर्विकल्प अनुभूति सतत नहीं रहती; यदि सतत दो घड़ी तक निर्विकल्प रहें तो केवलज्ञान हो जाये।[१]''

पूर्व प्रकरण की समाप्ति पर पण्डितजी ने एक बात की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया था कि अनुभव के काल में ज्ञान की विशेष वृद्धि नहीं होती। जिन लोगों के चित्त में यह बात पहले से ही खचित है कि कुछ विशेष जानने से विशेष आनन्द होता है; उन्हें ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक ही है कि **जब सविकल्पदशा से निर्विकल्पदशा में विशेष ज्ञान नहीं होता तो आनन्द भी विशेष कैसे होगा ?**

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डितजी सविकल्पज्ञान से निर्विकल्पज्ञान में होनेवाली दो विशेषताओं का विशेष उल्लेख करते हैं ह्न

१. सविकल्पदशा में ज्ञान अनेक ज्ञेयों को जानता रहता है, पर निर्विकल्पदशा में मुख्यरूप से एकमात्र आत्मा का ही जानना होता है।

२. सविकल्पदशा में परिणाम अनेक विकल्पों में उलझे रहते हैं और निर्विकल्पदशा में मात्र आत्मस्वरूप में ही तादात्म्यरूप से परिणमित होते हैं।

उक्त विशेषताओं के कारण निर्विकल्प अनुभूति के काल में विषय सेवन के सुख से एकदम भिन्न जाति का विशेष अतीन्द्रिय आनंद आता है। ●

---

१. अध्यात्मसंदेश, पृष्ठ ९०-९१

सातवाँ प्रवचन

संतप्त मानस शांत हों, जिनके गुणों के गान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में।।

पण्डित टोडरमलजी कृत रहस्यपूर्णचिट्ठी पर चर्चा चल रही है। विगत प्रवचन के अन्त में यह स्पष्ट किया गया था कि सविकल्पदशा से निर्विकल्पदशा में, आत्मानुभूति के काल में विशेष ज्ञान तो नहीं होता, तथापि आनन्द में तो विशेषता होती ही है।

अगला प्रश्न और उसका उत्तर प्रस्तुत करते हुए पण्डितजी लिखते हैंह्न

''यहाँ फिर प्रश्न ह्न अनुभव में भी आत्मा परोक्ष ही है, तो ग्रन्थों में अनुभव को प्रत्यक्ष कैसे कहते हैं ? ऊपर की गाथा में ही कहा है *'पच्चखो अणुहवो जम्हा'* सो कैसे है ?

उसका समाधान ह्न अनुभव में आत्मा तो परोक्ष ही है, कुछ आत्मा के प्रदेश आकार तो भासित होते नहीं हैं; परन्तु स्वरूप में परिणाम मग्न होने से जो स्वानुभव हुआ, वह स्वानुभवप्रत्यक्ष है।

स्वानुभव का स्वाद कुछ आगम-अनुमानादिक परोक्ष प्रमाण द्वारा नहीं जानता है, आप ही अनुभव के रसस्वाद को वेदता है।

जैसे कोई अंधपुरुष मिश्री को आस्वादता है; वहाँ मिश्री के आकारादि तो परोक्ष हैं, जो जिह्वा से स्वाद लिया है, वह स्वाद प्रत्यक्ष है ह्न वैसे स्वानुभव में आत्मा परोक्ष है, जो परिणाम से स्वाद आया, वह स्वाद प्रत्यक्ष है ह्न ऐसा जानना।

अथवा जो प्रत्यक्ष की ही भाँति हो उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं। जैसे लोक में कहते हैं कि 'हमने स्वप्न में अथवा ध्यान में अमुक पुरुष को प्रत्यक्ष देखा', वहाँ कुछ प्रत्यक्ष देखा नहीं है, परन्तु प्रत्यक्ष की ही भाँति प्रत्यक्षवत् यथार्थ देखा, इसलिए उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है।

उसीप्रकार अनुभव में आत्मा प्रत्यक्ष की भाँति यथार्थ प्रतिभासित होता है; इसलिए इस न्याय से आत्मा का भी प्रत्यक्ष जानना होता है ह्न ऐसा कहें तो दोष नहीं है।

कथन तो अनेक प्रकार से हैं, वह सर्व आगम–अध्यात्म शास्त्रों से जैसे विरोध न हो विवक्षाभेद से कथन जानना।[1]''

उक्त प्रश्नोत्तर का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''इसप्रकार आगम की सामान्य शैली के अनुसार इस मति–श्रुत को परोक्ष कहते हैं और अध्यात्म की खास शैली में उसे प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। **आगम–अध्यात्म शास्त्रों में भिन्न–भिन्न विवक्षा से अनेक प्रकार के कथन आते हैं, उनकी विवक्षा समझकर, उनमें परस्पर विरोध न आवे और अपना हित हो ह्न इसप्रकार उनका आशय समझना चाहिए।**

किसी जगह एक बात पढ़ी हो, वही सब जगह पकड़ रखे और अन्य जगह अन्य विवक्षा से कोई दूसरा कथन आवे, तब वहाँ उसका आशय न समझें तो दोनों का मेल बैठाना मुश्किल हो जायेगा। अत: किस जगह कौन सी विवक्षा है ह्न यह समझना चाहिए।

मन के अवलम्बन की अपेक्षा से मति–श्रुतज्ञान को परोक्ष कहा है; परन्तु मन का अवलम्बन हो, तब आत्मा को जान ही न सकें ह्न ऐसा नहीं है; क्योंकि इस ज्ञान में **स्वानुभव के समय में बुद्धिपूर्वक मन का अवलम्बन छूट गया है, इतने अंश में इसमें प्रत्यक्षपना है।**

जो सूक्ष्म–अबुद्धिपूर्वक विकल्प हैं, उनमें मन का अवलम्बन है; परन्तु **आत्मा का जो स्वसंवेदन है, उसमें तो मन का अवलम्बन छूट ही गया है।** केवलज्ञान जैसा प्रत्यक्षपना इसमें भले न हो, परन्तु स्वानुभव प्रत्यक्षपना अवश्य है।[2]''

अभी तक आत्मा को अनेक आगम प्रमाणों और युक्तियों से परोक्ष ही सिद्ध करते आ रहे हैं; अत: शिष्य के चित्त में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि जब आत्मा अनुभव में परोक्षरूप से ही ज्ञात होता है तो फिर आगम में उसे प्रत्यक्ष क्यों कहा, अनुभव प्रत्यक्ष क्यों कहा ?

---

१. रहस्यपूर्णचिट्ठी : मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४६–३४७
२. अध्यात्म संदेश, पृष्ठ ९४–९५

उक्त प्रश्न के उत्तर में पण्डित टोडरमलजी एक बार फिर दुहराते हैं कि अनुभव में तो आत्मा परोक्ष ही है। उसके बाद उसे परमागम में प्रत्यक्ष कहने की अपेक्षा स्पष्ट करते हैं, प्रत्यक्ष कहने का कारण बताते हैं।

कहते हैं कि आत्मा नहीं, अपितु आत्मस्वरूप में परिणाम मग्न होने से जो आनन्द का वेदन होता है, वह प्रत्यक्ष है; क्योंकि जो स्वानुभव का स्वाद आया, आनन्द की अनुभूति हुई; वह शास्त्रों में पढ़-पढ़कर या गुरु मुख से सुन-सुनकर नहीं हुई है; अपितु उसने उस आनन्द का साक्षात् वेदन किया है, उस आनन्द को भोगा है।

वे अपनी बात को स्पष्ट करते हुए मिश्री खानेवाले अन्धे व्यक्ति का उदाहरण देते हैं। जन्मान्ध व्यक्ति ने मिश्री का रूप–रंग और आकार–प्रकार को आँखवालों से सुनकर जाना है; पर उसका स्वाद, उसके रस का ज्ञान–आनन्द किसी के कहने मात्र से नहीं जाना है; अपितु स्वयं चखा है; उसे चख कर मात्र जाना ही नहीं है, अपितु उसका आनन्द लिया है, वेदन किया है, भोगा है।

सुख-दु:ख की अनुभूति के साथ जानने को वेदन कहते हैं।

अनुभव को प्रत्यक्ष कहने का एक कारण तो यह है और दूसरा कारण बताते हुए पण्डितजी कहते हैं कि **लगभग प्रत्यक्ष की भाँति विशद होने से, स्पष्ट होने से, निर्मल ज्ञान होने से उसे प्रत्यक्ष कहने का व्यवहार है।**

इसप्रकार के अनेक प्रयोग लोक में पाये जाते हैं। जैसे हम कहते हैं कि आज मैंने तुम्हें स्वप्न में प्रत्यक्ष देखा। तुम मंदिर में दर्शन कर रहे थे और मैं सामने आया। न केवल तुम्हें देखा, अपितु तुमसे बात भी की थी।

सामनेवाला कहता है कि मैं तो मंदिर गया ही नहीं तो तुमने मुझे मंदिर में प्रत्यक्ष कैसे देखा ?

तब वह कहता है कि मंदिर में मैं भी कहाँ गया था। मैं भी घर में ही सो रहा था।

''ऐसे में तू मुझे मंदिर में कैसे देख सकता है ?''

''क्यों नहीं, क्योंकि मैंने तुझे स्वप्न में प्रत्यक्ष देखा था।''

जिसप्रकार स्पष्टता के आधार पर स्वप्न में देखने को भी प्रत्यक्ष कह दिया जाता है; उसीप्रकार यहाँ भी आत्मा के जानने को व्यवहार से प्रत्यक्ष देखा कहा गया है।

अरे, भाई ! स्वप्न में देखना तो सही नहीं है। उसके समान कहकर तो तुम अनुभव के प्रत्यक्षपने को एकदम अभूतार्थ कह रहे हो।

जब हमारे पास प्रत्यक्ष ज्ञान है ही नहीं, फिर भी प्रत्यक्ष कहना किसप्रकार का व्यवहार होगा। ह्न इस बात को उदाहरण से पण्डितजी ने स्पष्ट किया है। जिसप्रकार स्वप्न में वह व्यक्ति था ही नहीं; उसीप्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान है ही नहीं तो फिर क्या कहें ?

अरे, भाई ! मति-श्रुतज्ञान परोक्ष हैं और उनके द्वारा ही आत्मा को जाना गया है। आत्मा का ज्ञान तो प्रत्यक्ष हुआ ही नहीं, आनन्द का वेदन प्रत्यक्ष जैसा हुआ है। यही अपेक्षा है।

जहाँ जो अपेक्षा हो उसे सावधानी पूर्वक सही-सही समझना चाहिए।

उसको प्रत्यक्ष कहने का एक कारण यह भी हो सकता है कि उसे कोई काल्पनिक न कहने लगे, कल्पनालोक में विचरण करना न मानने लगे। लोक में प्रत्यक्ष देखे गये पदार्थों का विश्वास जिस दृढ़ता के साथ किया जाता है; वैसा पढ़ी-सुनी बात का नहीं। **कोई इसे पढ़ी-सुनी बात के समान ही न मानने लगे, उससे कुछ अधिक है यह ह्न यह बताने के लिए भी उसे प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि उसकी सत्ता वास्तविक है। वह आनन्द भी सिद्धों की जाति के आनन्द के समान है।**

अगले प्रश्न और उनके उत्तर पण्डितजी इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं ह्न

''यहाँ प्रश्न ह्न ऐसा अनुभव कौन गुणस्थान में होता है ?

उसका समाधान ह्न चौथे से ही होता है, परन्तु चौथे में बहुत काल के अन्तराल से होता है और ऊपर के गुणस्थानों में शीघ्र-शीघ्र होता है।

फिर यहाँ प्रश्न ह्न अनुभव तो निर्विकल्प है, वहाँ ऊपर के और नीचे के गुणस्थानों में भेद कैसे होगा ?

उसका समाधान ह्न परिणामों की मग्नता में विशेष है। जैसे दो पुरुष नाम लेते हैं और दोनों ही के परिणाम नाम में हैं; वहाँ एक तो मग्नता विशेष है और एक को थोड़ी है ह्न उसीप्रकार जानना।

फिर प्रश्न ह्न यदि निर्विकल्प अनुभव में कोई विकल्प नहीं है तो शुक्लध्यान का प्रथम भेद पृथक्त्ववितर्कवीचार कहा, वहाँ 'पृथक्त्व-वितर्क' ह्न नाना प्रकार के श्रुत का 'वीचार' ह्न अर्थ-व्यंजन-योगसंक्रमण ह्न ऐसा क्यों कहा ?

समाधान ह्न कथन दो प्रकार है ह्न एक स्थूलरूप है, एक सूक्ष्मरूप है। जैसे स्थूलता से तो छठवें ही गुणस्थान में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत कहा और सूक्ष्मता से नववें गुणस्थान तक मैथुन संज्ञा कही; उसीप्रकार यहाँ अनुभव में निर्विकल्पता स्थूलरूप कहते हैं। तथा सूक्ष्मता से पृथक्त्व-वितर्क वीचारादिक भेद व कषायादिक दसवें गुणस्थान तक कहे हैं।

वहाँ अपने जानने में व अन्य के जानने में आये ऐसे भाव का कथन स्थूल जानना तथा जो आप भी न जाने और केवली भगवान ही जानें ह्न ऐसे भाव का कथन सूक्ष्म जानना। चरणानुयोगादिक में स्थूलकथन की मुख्यता है और करणानुयोग में सूक्ष्मकथन की मुख्यता है ह्न ऐसा भेद अन्यत्र भी जानना।

इसप्रकार निर्विकल्प अनुभव का स्वरूप जानना।[1]''

उक्त प्रश्नों का उत्तर आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''चतुर्थ गुणस्थान का प्रारम्भ ही ऐसे निर्विकल्प स्वानुभवपूर्वक होता है; सम्यग्दर्शन कहो, चौथा गुणस्थान कहो या धर्म का प्रारम्भ कहो ह्न वह ऐसे स्वानुभव के बिना नहीं होता।[2]

चौथे गुणस्थान में ऐसा अनुभव कभी-कभी होता है, बाद में जैसे-जैसे भूमिका बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे काल की अपेक्षा से बार-बार होता है और भाव की अपेक्षा से लीनता भी बढ़ती जाती है।[3]

स्वानुभव की जाति तो सभी गुणस्थानों में एक है, चैतन्यस्वभाव

१. रहस्यपूर्णचिट्ठी : मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४७
२. अध्यात्म संदेश, पृष्ठ ९६
३. वही, पृष्ठ ९८

में ही सभी का उपयोग लगा हुआ है; परन्तु इसमें परिणामों की मग्नता गुणस्थान अनुसार बढ़ती जाती है। सातवें गुणस्थान में स्वानुभव में जैसी लीनता है, वैसी तीव्र लीनता चौथे गुणस्थान में नहीं है; इसप्रकार निर्विकल्पता दोनों के होने पर भी परिणाम की मग्नता में विशेषता है।[१]

इसप्रकार गुणस्थान अनुसार स्वानुभव की विशेषता जाननी चाहिए। ज्यों–ज्यों गुणस्थान बढ़ता जाये, त्यों–त्यों कषायें घटती जायें और स्वरूप में लीनता बढ़ती जाये।[२]''

यद्यपि अनुभव चौथे गुणस्थान में होता है; तथापि चौथे गुणस्थान में होनेवाले अनुभव में परिणामों की मग्नता उसप्रकार की नहीं होती, जैसी पंचमादि गुणस्थानों में होती है। ऊपर–ऊपर के गुणस्थानों में होनेवाले अनुभव में परिणामों की मग्नता की गहराई निरन्तर बढ़ती ही जाती है। न केवल गहराई, अपितु आगे–आगे मग्नता का काल भी बढ़ता जाता है और अन्तराल (वियोगकाल) कम होता जाता है।

यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जब अनुभव में विकल्प नहीं होते और ध्येय का परिवर्तन नहीं होता, ज्ञेय का भी परिवर्तन नहीं होता तो फिर शुक्लध्यान के पहले पाये में अर्थसंक्रान्ति, व्यंजनसंक्रान्ति और योगसंक्रान्ति कैसे होती है ?

संक्रान्ति शब्द का अर्थ बदलना होता है। जब सूर्य एक राशि से बदलकर दूसरी राशि में जाता है, तब उसे संक्रान्ति कहते हैं और उस काल को संक्रान्तिकाल कहते हैं। लोक में भी जब विशेष बदलाव का काल चलता है, तब उसे संक्रान्तिकाल कहा जाता है।

सूर्य की राशिपरिवर्तन संबंधी संक्रान्ति प्रत्येक माह की १४वीं तारीख को होती है। वर्ष के आरंभ में १४ जनवरी को सूर्य मकर राशि में प्रवेश करता है; अत: उसे मकर संक्रान्ति कहते हैं। वर्षारंभ में होने के कारण लोक में उसे पर्व के रूप में मनाया जाता है।

अर्थ संक्रान्ति, व्यंजन संक्रान्ति और योग संक्रान्ति का स्वरूप

१. अध्यात्म संदेश, पृष्ठ ९८ २. वही, पृष्ठ ९९

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र की आचार्य पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में एवं आचार्य अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक में इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है ह्न

''अर्थ ध्येय को कहते हैं। इससे द्रव्य और पर्याय लिये जाते हैं। व्यंजन का अर्थ वचन है तथा काय, वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। संक्रान्ति का अर्थ परिवर्तन है।

द्रव्य को छोड़कर पर्याय को प्राप्त होता है और पर्याय को छोड़ द्रव्य को प्राप्त होता है ह्न यह अर्थसंक्रान्ति है।

एक श्रुतवचन का आलम्बन लेकर दूसरे वचन का आलम्बन लेता है और उसे भी त्याग कर अन्य वचन का आलम्बन लेता है ह्न यह व्यंजन–संक्रान्ति है।

काययोग को छोड़कर दूसरे योग को स्वीकार करता है और दूसरे योग को छोड़कर काययोग को स्वीकार करता है ह्न यह योगसंक्रान्ति है।

इसप्रकार के परिवर्तन को वीचार कहते हैं।[१]''

द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों को अर्थ कहते हैं[२]; अत: द्रव्य से पर्याय पर, पर्याय से द्रव्य पर उपयोग जाने को तो अर्थसंक्रान्ति कहते ही हैं, द्रव्य से द्रव्यान्तर और पर्याय से पर्यायान्तर पर उपयोग जाने को भी अर्थ–संक्रान्ति ही कहेंगे।

व्यंजन का अर्थ वचन होने से एक श्रुतवचन से अन्य श्रुतवचन पर उपयोग जाने को व्यंजनसंक्रान्ति कहते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि **पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान में आगम वचनों का ज्ञान चलता है,** ज्ञान का ज्ञेय बदलता है, ध्यान का ध्येय भी बदलता है।

ज्ञान का ज्ञेय और ध्यान का ध्येय बदलने से ध्यान में, अनुभूति में कोई अन्तर नहीं आता; क्योंकि उक्त स्थिति में भी वीतरागता न केवल कायम रहती है, अपितु निरन्तर बढ़ती रहती है।

१. सर्वार्थसिद्धि व तत्त्वार्थराजवार्तिक, अध्याय ९, सूत्र ४४
२. प्रवचनसार, गाथा ८७

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या आगम में इसप्रकार के दुहरे कथन भी किये गये हैं ?

इसके उत्तर में पण्डितजी कहते हैं कि स्थूलता और सूक्ष्मता के भेद से कथन दो प्रकार के होते हैं। आगम में इसप्रकार के बहुत कथन प्राप्त होते हैं, जिनमें स्थूलता और सूक्ष्मता की अपेक्षा बहुत अन्तर दिखाई देता है।

एक ओर तो छठवें गुणस्थान में ब्रह्मचर्य महाव्रत कहा और दूसरी ओर मैथुनसंज्ञा नौवें गुणस्थान तक कही।

नौवें गुणस्थान तक मैथुन संज्ञा होने की स्थिति में पूर्ण ब्रह्मचर्यरूप ब्रह्मचर्य महाव्रत कैसे हो सकता है ?

इस प्रश्न का एकमात्र उत्तर यही हो सकता है कि छठवें गुणस्थान में महाव्रत कहकर पूर्ण ब्रह्मचर्य कहना स्थूल कथन है और मैथुन संज्ञा नौवें गुणस्थान तक कहना सूक्ष्म कथन है।

उसीप्रकार यहाँ अनुभव के काल में पर को नहीं जानना और निर्विकल्पता कहना स्थूल कथन है और पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान में पर को जानना और कषायों के रूप में विकल्पों का सद्भाव दशवें गुणस्थान तक कहना सूक्ष्म कथन है।

यह तो आप जानते ही हैं कि स्थूल कथन अर्थात् सामान्य कथन से सूक्ष्म कथन अर्थात् विशेष कथन बलवान होता है। कहा भी है ह्न

सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान भवेत्।[१]

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत्खरविषाणवत्।[२]

सामान्य कथन से विशेष कथन बलवान होता है और विशेष से रहित सामान्य गधे के सींग के समान है। तात्पर्य यह है कि विशेष से रहित सामान्य का जगत में अस्तित्त्व ही नहीं है।

कौन-सा कथन स्थूल है और कौन-सा सूक्ष्म ह्न इस संदर्भ में भी अनेक प्रकार की बातें चलती हैं; यही कारण है कि यहाँ पण्डितजी उनको भी स्पष्ट कर देते हैं। उनके अनुसार **छद्मस्थ को भी जानने में आनेवाले कथन**

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, २०२ पेज पर उद्धृत २. आलापपद्धति, श्लोक ९

स्थूल कथन हैं और मात्र केवली के ज्ञान में आनेवाले कथन सूक्ष्म कथन हैं। उक्त सूक्ष्म कथनों को छद्मस्थ लोग केवली के कथनानुसार जानते हैं।

अगले प्रश्न और उनके उत्तर देते हुए पण्डितजी लिखते हैं ह्न

''तथा भाईजी, तुमने तीन दृष्टान्त लिखे व दृष्टान्त में प्रश्न लिखा, सो दृष्टान्त सर्वांग मिलता नहीं है। दृष्टान्त है वह एक प्रयोजन को बतलाता है; सो यहाँ द्वितीया का विधु (चन्द्रमा), जलविन्दु, अग्निकणिका ह्न यह तो एकदेश है और पूर्णमासी का चन्द्र, महासागर तथा अग्निकुण्ड ह्न यह सर्वदेश हैं।

उसीप्रकार चौथे गुणस्थान में आत्मा के ज्ञानादिगुण एकदेश प्रगट हुए हैं, तेरहवें गुणस्थान में आत्मा के ज्ञानादिक गुण सर्वथा प्रगट होते हैं और जैसे दृष्टान्तों की एक जाति है, वैसे ही जितने व्रत-अव्रत-सम्यग्दृष्टि के प्रगट हुए हैं, उनकी और तेरहवें गुणस्थान में जो गुण प्रगट होते हैं उनकी एक जाति है।

वहाँ तुमने प्रश्न लिखा था कि एक जाति है तो जिसप्रकार केवली सर्व ज्ञेयों को प्रत्यक्ष जानते हैं; उसीप्रकार चौथे गुणस्थानवाला भी आत्मा को प्रत्यक्ष जानता होगा ?

उत्तर ह्न भाईजी, प्रत्यक्षता की अपेक्षा एक जाति नहीं है, सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा एक जाति है। चौथे गुणस्थानवाले को मति-श्रुतरूप सम्यग्ज्ञान है और तेरहवें गुणस्थानवाले को केवलरूप सम्यग्ज्ञान है।

तथा एकदेश सर्वदेश का अन्तर तो इतना ही है कि मति-श्रुतज्ञान वाला अमूर्तिक वस्तु को अप्रत्यक्ष और मूर्तिक वस्तु को भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष, किंचित् अनुक्रम से जानता है तथा सर्वथा सर्व वस्तु को केवलज्ञान युगपत् जानता है।

वह परोक्ष जानता है, यह प्रत्यक्ष जानता है ह्न इतना ही विशेष है।

और सर्वप्रकार एक ही जाति कहें तो जिसप्रकार केवली युगपत् प्रत्यक्ष अप्रयोजनरूप ज्ञेय को निर्विकल्परूप जानते हैं; उसीप्रकार यह भी जाने ह्न ऐसा तो है नहीं; इसलिए प्रत्यक्ष-परोक्ष का विशेष जानना।

उक्तं च अष्टसहस्री मध्ये ह्न

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेद: साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।।[1]

अर्थ :ह्न स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान ह्न यह दोनों सर्व तत्त्वों का प्रकाशन करनेवाले हैं। विशेष इतना ही है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष है, श्रुतज्ञान परोक्ष है; परन्तु वस्तु है सो और नहीं है।

तथा तुमने निश्चय सम्यक्त्व का स्वरूप और व्यवहार सम्यक्त्व का स्वरूप लिखा है सो सत्य है; परन्तु इतना जानना कि सम्यक्त्वी के व्यवहार सम्यक्त्व में व अन्य काल में अंतरंग निश्चयसम्यक्त्व गर्भित है, सदैव गमनरूप रहता है।

तथा तुमने लिखा ह्न कोई साधर्मी कहता है कि आत्मा को प्रत्यक्ष जाने तो कर्मवर्गणा को प्रत्यक्ष क्यों न जाने ?

सो कहते हैं कि आत्मा को तो प्रत्यक्ष केवली ही जानते हैं, कर्मवर्गणा को अवधिज्ञानी भी जानते हैं।

तथा तुमने लिखा ह्न द्वितीया के चन्द्रमा की भाँति आत्मा के प्रदेश थोड़े से खुले कहो ?

उत्तर : यह दृष्टान्त प्रदेशों की अपेक्षा नहीं है, यह दृष्टान्त गुण की अपेक्षा है।[2]''

स्वामीजी उक्त प्रकरण का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''जैसे पूर्णिमा का अंश दोज है, समुद्र का अंश जलबिन्दु है और बड़े अग्निकुण्ड का अंश एक अग्निकण है ह्न इन दृष्टान्तों में तो क्षेत्र अपेक्षा से अंश-अंशीपना है; परन्तु आत्मा में जो श्रुतज्ञान को पूर्ण ज्ञान का अंश कहा, उसमें क्षेत्र अपेक्षा से अंश-अंशीपना नहीं है, अपितु भाव अपेक्षा से है; क्षेत्र तो दोनों का एक ही है।

जैसे दोज का चन्द्र उदित होने पर चन्द्र का थोड़ा सा क्षेत्र खुला और शेष ढंका हुआ है, वैसे आत्मा में कहीं थोड़े प्रदेश निरावरण हुए और अन्य प्रदेश आवरणवाले रहे ह्न ऐसा नहीं है; अपितु जैसे पूर्णचन्द्र प्रकाश

१. अष्टसहस्री : परिच्छेद १०, कारिका १०५
१. रहस्यपूर्णचिट्ठी : मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४७-३४९

देता है, वैसे दोज का चन्द्र भी प्रकाश देता है; प्रकाश देने का स्वभाव दोनों में एक सा है; एक पूरा प्रकाश देता है, दूसरा अल्प प्रकाश देता है ह्न इतना ही फर्क है। वैसे यहाँ आत्मा के केवलज्ञान पूर्ण प्रकाश करनेवाला है और मति-श्रुतज्ञान दोज के चन्द्र की तरह अल्प प्रकाश देता है, प्रकाश देने का स्वभाव दोनों में एक-सा है, अत: दोनों की एक ही जाति है। इसप्रकार इनमें अंश-अंशित्व समझना।[1]

विशेष यह है कि तेरहवें गुणस्थान का केवलज्ञान व चौथे गुणस्थान का सम्यक् मति-श्रुतज्ञान ह्न इन दोनों में सम्यक्पने की अपेक्षा से एक जाति है; परन्तु जैसे केवलज्ञान समस्त पदार्थों को, असंख्य आत्मप्रदेश आदि को भी प्रत्यक्ष साक्षात् जानता है, वैसे मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष नहीं जानता; अत: प्रत्यक्षपने की अपेक्षा से तो इन दोनों में समानता नहीं है, परन्तु जाति अपेक्षा से समानता है।[2]

कोई कहे कि चतुर्थ गुणस्थान में निश्चय-सम्यक्त्व नहीं होता तो यह बात सच्ची नहीं। चौथे गुणस्थान से ही निश्चयसम्यक्त्व का निरन्तर परिणमन है। व्यवहार-सम्यक्त्व के साथ ही निश्चय-सम्यक्त्व यदि विद्यमान न हो तो वह व्यवहार-सम्यक्त्व भी सच्चा नहीं अर्थात् वहाँ सम्यक्त्व ही विद्यमान नहीं; परन्तु मिथ्यात्व है।

यहाँ व्यवहार-सम्यक्त्व में निश्चय सम्यक्त्व गर्भित है ह्न ऐसा कहा; गर्भित का अर्थ 'गौण' नहीं समझना; परन्तु एक वस्तु के कहने से दूसरी वस्तु उसमें आ ही जाय ह्न ऐसा यहाँ 'गर्भित' का अर्थ समझना।[3]

जैसे अवधिज्ञानी कार्माणवर्गणा वगैरह को प्रत्यक्ष देखते हैं, वैसे सम्यग्दृष्टि स्वानुभव में आत्मप्रदेश को प्रत्यक्ष नहीं देखते। आत्मप्रदेशों को प्रत्यक्ष तो केवली भगवान ही देखते हैं; **समकिती के स्वानुभव में जो प्रत्यक्षपना कहा है, वह प्रदेश की अपेक्षा से नहीं कहा; परन्तु स्वानुभव में इन्द्रियादि का अवलम्बन नहीं है, इस अपेक्षा से कहा है।**

सम्यग्दृष्टि साधक जीव कर्मवर्गणादि को तो प्रत्यक्ष जानें या न जानें ह्न इससे उनके साधकपने में अन्तर नहीं पड़ता; परन्तु आत्मा को तो

१. अध्यात्म संदेश, पृष्ठ १०९-११० २. वही, पृष्ठ ११० ३. वही, पृष्ठ ११८

स्वानुभव से प्रत्यक्ष जाने ही; क्योंकि इसके साथ साधकपने का संबंध है। वे कर्मवर्गणा को प्रत्यक्ष न जानें तो भी श्रुतज्ञान के द्वारा स्वरूप में लीन होकर केवलज्ञान पा सकते हैं।

आत्मा के कुछ प्रदेश खुल जायें और शेष प्रदेश आवरणवाले रहें ह्न इसप्रकार के प्रदेशभेद आत्मा में नहीं हैं। जो सम्यग्दर्शनादि होते हैं, वे आत्मा के समस्त असंख्य प्रदेश में सर्वत्र होते हैं; अत: 'आत्मा के थोड़े प्रदेश खुल गये और दूसरे आवरणवाले रहे' ह्न ऐसे अर्थ में तो दोज के चन्द्रमा का दृष्टान्त नहीं है; वह दृष्टान्त क्षेत्र अपेक्षा से नहीं, किन्तु गुण अपेक्षा से है; अतएव **सम्यग्दर्शन होने पर चतुर्थ गुणस्थान में ज्ञानादि गुणों का कुछ सामर्थ्य खिल गया है और कुछ सामर्थ्य अभी खिलने को बाकी है ह्न ऐसा समझना।**[१]''

मुल्तानवाले भाइयों ने दोज और पूर्णमासी के चन्द्रमा, जलबिन्दु और महासागर तथा अग्नि की चिनगारी और अग्निकुण्ड की समानता के आधार पर क्षयोपशमज्ञान और क्षायिकज्ञान को समान मानकर जिसप्रकार तेरहवें गुणस्थानवाले केवलज्ञानी सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं; उसीप्रकार चौथे गुणस्थानवाले सम्यग्ज्ञानी जीव भी आत्मा को प्रत्यक्ष जानते होंगे ह्न इसप्रकार का प्रश्न उपस्थित किया था।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डितजी बड़ी ही सरलता से कहते हैं कि **चौथे गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि के ज्ञान में और तेरहवें गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि के केवलज्ञान में ज्ञान के सम्यक् होने की अपेक्षा समानता है, सम्यग्ज्ञान की अपेक्षा समानता है; प्रत्यक्षपने की अपेक्षा समानता नहीं है।**

जिसप्रकार केवलज्ञानी का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है; उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि का ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान ही है, मिथ्याज्ञान नहीं; तथापि जिसप्रकार केवलज्ञानी सभी पदार्थों को अनन्त गुण-पर्यायों सहित एक समय में प्रत्यक्ष जानते हैं; उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानी सबको सभी पर्यायों के साथ नहीं

१. अध्यात्म संदेश, पृष्ठ १२४-१२५

जानते, प्रत्यक्ष नहीं जानते; अपितु छह द्रव्यों को कुछ पर्यायों के साथ आगम-अनुमानादि परोक्ष प्रमाणों से जानते हैं।

इसप्रकार जो प्रत्यक्ष और परोक्षपने का अन्तर तथा सब पर्यायों के साथ सबको जानने और कुछ पर्यायों के साथ सभी द्रव्यों के जानने संबंधी अन्तर क्षायिकज्ञान और क्षयोपशमज्ञान में है, वह तो है ही।

यदि सम्यग्ज्ञानी जीव आत्मा को प्रत्यक्ष जानते हैं तो फिर उन्हें कर्म वर्गणाओं को भी प्रत्यक्ष जानना चाहिए।

उक्त आशंका का निराकरण करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि आत्मा को प्रत्यक्ष तो एकमात्र केवली ही जानते हैं, पर कर्मवर्गणाओं को अवधिज्ञानी भी प्रत्यक्ष जानते हैं।

तात्पर्य यह है कि आत्मा को प्रत्यक्ष जानने के आधार पर सम्यग्ज्ञानी मूर्तिक कार्माण वर्गणाओं को प्रत्यक्ष जानते होंगे ह्न जो लोग ऐसा सिद्ध करना चाहते हैं; उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि आत्मा को प्रत्यक्ष तो एकमात्र केवलज्ञानी ही जानते हैं, अन्य कोई नहीं; पर कार्माण वर्गणाओं को तो क्षयोपशम ज्ञानवाले अवधिज्ञानी भी जान लेते हैं। तात्पर्य यह है कि कार्मण वर्गणाओं को अवधिज्ञानी प्रत्यक्ष जान लेते हैं; पर अवधिज्ञान में आत्मा को जानने की सामर्थ्य ही नहीं है।

इसीप्रकार जिसप्रकार दोज के चन्द्रमा का कुछ भाग खुला रहता है और बहुत कुछ भाग आच्छादित रहता है; उसीप्रकार आत्मा के कुछ प्रदेश ढंके रहते होंगे और कुछ खुले रहते होंगे।

इस आशंका के समाधान में पण्डितजी कहते हैं कि यह ढंकापन और खुलापन प्रदेशों की अपेक्षा नहीं, अपितु गुणों की अपेक्षा है।

इसीप्रकार 'व्यवहारसम्यक्त्व में निश्चयसम्यक्त्व गर्भित अर्थात् सदैव गमनरूप है' ह्न यह लिखकर पण्डितजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि निश्चय-व्यवहार सम्यग्दर्शन आगे-पीछे नहीं, निरंतर साथ ही रहते हैं। वस्तुत: बात तो यह है कि सम्यग्दर्शन तो एक ही है। जो वास्तविक सम्यग्दर्शन है, उसे निश्चय सम्यग्दर्शन और उसके साथ नियम से

होनेवाला धार्मिक व्यवहार व्यवहार सम्यग्दर्शन है। ऐसी स्थिति में उनके आगे-पीछे होने का कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

चिट्ठी का समापन करते हुए पण्डितजी कहते हैं ह्न

''जो सम्यक्त्व संबंधी और अनुभव संबंधी प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्षादिक के प्रश्न तुमने लिखे थे, उनका उत्तर अपनी बुद्धि अनुसार लिखा है; तुम भी जिनवाणी से तथा अपनी परिणति से मिलान कर लेना।

अर भाईजी, विशेष कहाँ तक लिखें, जो बात जानते हैं, वह लिखने में नहीं आती। मिलने पर कुछ कहा भी जाय, परन्तु मिलना कर्माधीन है; इसलिए भला यह है कि चैतन्यस्वरूप के अनुभव का उद्यमी रहना।

वर्तमानकाल में अध्यात्मतत्त्व तो आत्मख्याति–समयसार ग्रंथ की अमृतचन्द्र आचार्यकृत संस्कृतटीका ह्न में है और आगम की चर्चा गोम्मटसार में है तथा और अन्य ग्रन्थों में है।

जो जानते हैं, वह सब लिखने में आवे नहीं; इसलिए तुम भी अध्यात्म तथा आगम ग्रन्थों का अभ्यास रखना और स्वरूपानन्द में मग्न रहना।

और तुमने विशेष ग्रन्थ जाने हों सो मुझको लिख भेजना। साधर्मियों को तो परस्पर चर्चा ही चाहिए और मेरी तो इतनी बुद्धि है नहीं, परन्तु तुम सरीखे भाइयों से परस्पर विचार है सो बड़ी वार्ता है।

जबतक मिलना नहीं हो, तबतक पत्र तो अवश्य ही लिखा करोगे।

मिती फागुन बदी ५, सं. १८११।[१]''

उक्त प्रकरण का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्न

''पत्र के अन्त में पण्डित श्री टोडरमलजी निर्मानतापूर्वक लिखते हैं कि ये उत्तर मैंने मेरी बुद्धि के अनुसार लिखे हैं, उन्हें जिनवाणी के साथ तथा अपनी परिणति के साथ तुम मिलान करना।[२]

प्रारम्भ में लिखा था कि चिदानन्दघन के अनुभव से तुमको सहजानन्द की वृद्धि चाहता हूँ और यहाँ अन्त में लिखते हैं कि निज स्वरूप में मग्न रहना। तथा स्वयं अपने को तत्त्व के अभ्यास का विशेष प्रेम होने से

१. रहस्यपूर्णचिट्ठी : मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ३४९ २. अध्यात्म संदेश, पृष्ठ १२६

लिखते हैं कि कोई विशेष ग्रन्थ तुम्हारे जानने में आये हों तो मुझे लिख भेजना। साधर्मियों के तो एक–दूसरे से धर्म–स्नेहपूर्वक ऐसी धर्मचर्चा ही होना चाहिए। साधर्मी के साथ चर्चा–वार्ता, प्रश्न–उत्तर करने से विशेष स्पष्टता होती है, कहीं सूक्ष्म फर्क हो तो वह ख्याल में आ जाता है और ज्ञान की विशेष स्पष्टता होती है।[१]''

पण्डितजी ने मुलतानवाले भाइयों की शंकाओं के जो समाधान प्रस्तुत किये हैं; वे सभी आगम के अनुसार ही हैं और उन्हें तर्क की कसौटी पर भी कसा जा सकता है।

यह समझने–समझाने की भावना से गुरु–शिष्य या साधर्मी भाइयों के बीच होनेवाली वीतरागकथा (चर्चा) होने से पण्डितजी ने उदाहरणों के माध्यम से भी अपनी बात स्पष्ट की है; क्योंकि विभिन्न मतवाले विद्वानों के बीच जीतने की इच्छा से की जानेवाली विजिगीसुकथा (चर्चा) में तो उदाहरणों का प्रयोग वर्जित ही रहता है।

यद्यपि उन्हें अपने ज्ञान और प्रस्तुतीकरण पर पूरा भरोसा था; तथापि वे विनम्रतावश लिखते हैं कि मेरे दिये गये उत्तरों को आगम से मिलान करके ही स्वीकार करना। न केवल आगम से अपितु अपनी परिणति से भी मिलान करना।

यह उसीप्रकार की सलाह है कि जैसी सलाह प्रत्येक व्यापारी अपनी सन्तान को देता है कि हम से भी पैसों का कुछ लेन–देन करो तो गिनकर देना और गिनकर ही लेना। इसीप्रकार पण्डितजी की ही नहीं; प्रत्येक ज्ञानी की सभी साधर्मी भाइयों को यही सलाह होती है कि किसी के भी कथन को शास्त्रों से मिलान करके, तर्क की कसौटी पर कसकर और आत्मानुभव से मिलान करके ही स्वीकार करना चाहिए।

पण्डित टोडरमलजी के उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि उनके द्वारा दिये समाधान आगम के अनुकूल तो हैं ही; ज्ञानीजनों की परिणति की कसौटी पर भी खरे उतरनेवाले हैं; क्योंकि उन्होंने स्वयं अपनी परिणति की कसौटी पर उन्हें पहले ही परख लिया है।

१. अध्यात्म संदेश, पृष्ठ १२८

जिनवाणी के स्वाध्याय से समझे गये एवं गुरु या साधर्मी द्वारा समझाये गये वस्तुस्वरूप को इसीप्रकार कसौटी पर कसकर स्वीकार करने का आदेश आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार[१] में दिया है।

अत: यह मात्र औपचारिकता नहीं है, अपितु मार्ग ही ऐसा है।

अत्यन्त उपयोगी उत्तर लिखने के उपरान्त भी उन्हें संतोष न था। यही कारण है कि वे लिखते हैं कि विशेष कहाँ तक लिखें; जो बात जानते हैं, वह लिखने में नहीं आती। **उन्हें भरोसा था कि मिलने पर कुछ विशेष समझाया जा सकता है, पर मिलना उस जमाने में अत्यन्त कठिन था।** इसलिए उनकी स्पष्ट सलाह थी कि आत्मा के अनुभव के प्रयास में निरन्तर उद्यमी रहना ही श्रेयस्कर है।

पत्र के अन्त में वे अध्यात्म की गहराई में जाने के लिए समयसार की आत्मख्याति टीका और सैद्धान्तिक प्रश्नों के समाधान के लिए गोम्मटसार आदि ग्रन्थों के स्वाध्याय करने की सलाह देते हैं।

अपनी सलाह को दुहराते हुए वे लिखते हैं कि आध्यात्मिक और आगम ग्रन्थों का स्वाध्याय करना एवं स्वरूपानन्द में मग्न रहना।

उनकी दृष्टि में एकमात्र करने योग्य कार्य स्वाध्याय और ध्यान ही हैं।

सर्वान्त में वे यह भी लिखना नहीं भूलते कि तुम्हारे देखने में कोई विशेष ग्रंथ आये हों तो मुझे अवश्य बताना, जिससे मैं भी उन ग्रन्थों के स्वाध्याय का लाभ उठा सकूँ।

साधर्मी जीवों के तो परस्पर चर्चा ही चाहिए। पण्डितजी का अत्यन्त मार्मिक यह कथन सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों के लिए अत्यन्त उपयोगी है; क्योंकि धर्म का नाता तो मूलत: तत्त्वज्ञान से ही है; अत: साधर्मी जन परस्पर तात्त्विक चर्चा के अतिरिक्त और क्या करेंगे ?

इसप्रकार हम देखते हैं कि यह रहस्यपूर्णचिट्ठी; चिट्ठी नहीं, जिनागम और जिन-अध्यात्म का मर्म खोलनेवाला अनुपम ग्रन्थ है।

सभी आत्मार्थीजन इसका गहराई से स्वाध्याय कर आत्मकल्याण के मार्ग में रत रहें ह्न इसी मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ। ●

१. समयसार, गाथा ५

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

अध्यात्मजगत के बहुश्रुत विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल इक्कीसवीं शताब्दी के मूर्धन्य विद्वानों में अग्रणी हैं। सन् १९७६ से जयपुर से प्रकाशित आत्मधर्म और फिर उसके पश्चात् वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय लेखों के रूप में आपके द्वारा आजतक जो कुछ भी लिखा गया, वह सब एवं जैनपथप्रदर्शक में प्रकाशित आपके आलेख जिन-अध्यात्म की अमूल्य निधि बन गये हैं, लगभग सभी पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित होकर स्थायी साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं।

डॉ. भारिल्ल जितने कुशल प्रवक्ता हैं, लेखन के क्षेत्र में भी उनका कोई सानी नहीं है। यही कारण है कि आज उनका साहित्य देश की प्रमुख आठ भाषाओं में लगभग ४४ लाख प्रतियों की संख्या में प्रकाशित होकर जन-जन तक पहुँच चुका है। आपने अबतक ७८ कृतियों के माध्यम से साढे बारह हजार पृष्ठ लिखे हैं और लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठों का सम्पादन किया है, जो सभी प्रकाशित है। आपकी कृतियों की सूची इस कृति में अन्यत्र प्रकाशित है।

प्रात:स्मरणीय आचार्य कुन्दकुन्द के पंच परमागम ह्न समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय और अष्टपाहुड़ आदि ग्रंथों पर आपका विशेषाधिकार है। आपके द्वारा लिखित और पाँच भागों में २२६१ पृष्ठों में प्रकाशित समयसार अनुशीलन के अतिरिक्त ४०० पृष्ठों का समयसार का सार व ६३८ पृष्ठों की समयसार की ज्ञायकभावप्रबोधिनी टीका जन-जन तक पहुँच चुकी है।

इसीप्रकार १२५३ पृष्ठों का प्रवचनसार अनुशीलन तीन भागों में, ४०७ पृष्ठों का प्रवचनसार का सार एवं ५७२ पृष्ठों की प्रवचनसार की ज्ञानज्ञेयतत्त्व-प्रबोधिनी टीका तथा नियमसार अनुशीलन भाग १ व २ भी लगभग ६०० पृष्ठों में प्रकाशित होकर आत्मार्थी जगत में धूम मचा चुकी हैं।

इसप्रकार सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द की अमरकृति समयसार, प्रवचनसार और नियमसार पर ही आप कुल मिलाकर ५७८९ पृष्ठ लिख चुके हैं। साथ में नियमसार पर भी टीका लिखी जा रही है, जो यथासमय प्रकाशित होगी।

मोक्षमार्गप्रकाशक का सार डॉ. भारिल्लजी की नवीनतम कृति है, जो ४०० पृष्ठों में प्रकाशित होकर जन-जन को लाभान्वित कर रही है।

डॉ. भारिल्लजी उन प्रतिभाशाली विद्वानों में हैं, जो आज समाज में सर्वाधिक पढ़े एवं सुने जाते हैं। वे न केवल लोकप्रिय प्रवचनकार एवं कुशल अध्यापक ही हैं, अपितु सिद्धहस्त लेखक, कुशल कथाकार, सफल सम्पादक एवं आध्यात्मिक कवि भी हैं।

साहित्य व समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उनकी गति अबाध है। तत्त्वप्रचार की गतिविधियों को निरंतर गति प्रदान करनेवाली उनकी नित नई सूझ-बूझ, अद्भुत प्रशासनिक क्षमता एवं पैनी पकड़ का ही परिणाम है कि आज जयपुर आध्यात्मिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया है।

यह तो सर्वविदित ही है कि **डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल : व्यक्तित्व एवं कर्त्तृत्व** नामक शोधप्रबंध पर सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर ने **डॉ. महावीरप्रसाद जैन, टोकर (उदयपुर)** को पीएच.डी. की उपाधि प्रदान की है। डॉ. भारिल्ल के साहित्य को आधार बनाकर अनेक छात्रों ने हिन्दी एम.ए. के निबंध के पेपर के बदले में लिखे जानेवाले लघु शोध प्रबंध भी लिखे हैं, जो राजस्थान विश्वविद्यालय में स्वीकृत हो चुके हैं।

अरुणकुमार जैन बड़ामलहरा द्वारा लिखित **डॉ. भारिल्ल का कथा साहित्य** नामक लघु शोध प्रबंध प्रकाशित भी हो चुका है एवं अनेक शोधार्थी अभी भी डॉ. भारिल्ल के साहित्य पर शोधकार्य कर रहे हैं।

श्रीमती सीमा जैन द्वारा 'डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल के साहित्य का समालोचनात्मक अनुशीलन' नामक शोध प्रबंध निकट भविष्य में शीघ्र ही सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर में प्रस्तुत होने जा रहा है।

डॉ. भारिल्ल के संबंध में अबतक लिखित साहित्य की सूची और उसका संक्षिप्त परिचय इसी ग्रंथ में यथास्थान दिया गया है।

अभी-अभी एक वर्ष पहले २८ अक्टूबर २००९ को मंगलायतन विश्वविद्यालय, अलीगढ़ ने आपको डी.लिट् की मानद उपाधि से अलंकृत कर स्वयं को गौरवान्वित किया है।

आपके द्वारा विगत २९ वर्षों से धर्मप्रचारार्थ लगातार विदेश यात्रायें की जा रही हैं, जिनके माध्यम से वे विश्व के कोने-कोने में तत्त्वज्ञान का अलख जगा रहे हैं। इस वर्ष भी जून-जुलाई का यू.एस.ए. और यू.के. का कार्यक्रम बन गया है।

'रहस्य : रहस्यपूर्णचिट्ठी का' इस साहित्यिक कृति का प्रकाशन करते समय हमें विशेष आनन्द हो रहा है। आनन्द होने का एक कारण तो यह भी है कि मेरे मन में स्वाभाविक रीति से ही अनेक वर्षों से यह जिज्ञासा जागृत हो

गयी थी कि डॉ. भारिल्ल जैसे अधिकारी विद्वान से इसका मर्म सुनने को मिले। चर्चा के समय ही डॉ. भारिल्ल ने एक बार मुझे कहा भी था कि ह्न "कलकत्ता में रहस्यपूर्णचिट्ठी पर प्रवचन हुए हैं और खुलासा अच्छा हुआ है।" उसी समय से इस विषय के प्रवचनों की सुनने-जानने की तीव्र भावना थी। तथापि प्रवचनों को (सी.डी. के माध्यम से) सुनना नहीं बना। मुझे ऐसा सौभाग्य इस कृति से मिला कि वे ही प्रवचन डॉ. भारिल्ल द्वारा संशोधित होकर पढ़ने को मिले।

इस कृति का शब्द-शब्द मैंने प्रकाशन के पूर्व ही पढ़ा है, उसका आनन्द भी प्राप्त किया है। शुद्धोपयोग एवं शुद्धपरिणति का विशेष विवेचन किसी न किसी कृति में विस्तारपूर्वक आयेगा तो अच्छा, ऐसा विचार भी मेरे मन में अनेक वर्षों से आया करता था। इस पुस्तक में शुद्धोपयोग तथा शुद्धपरिणति का खुलासा भी डॉ. भारिल्ल की लेखनी से शब्दबद्ध हुआ है।

इस कृति के प्रूफ पढ़ते समय भी मैंने डॉ. भारिल्ल से कहा था कि ह्न अनेक पात्र पाठक अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता से रहस्य का ज्ञान करने लायक तैयार हो गये हैं, हो रहे हैं। इसी समय यह कृति भी आपके द्वारा लिखी जा रही है। इस सहज योग को भी मैं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता हूँ। यदि ऐसा सहज योग न बने तो पण्डित श्री दीपचन्दजी कासलीवाल के जीवन जैसा स्वरूप भी बन सकता है। पण्डित दीपचन्दजी तत्त्व की सूक्ष्म एवं रहस्यमयी विषय को सुनाना चाहते थे; परन्तु सुनने-समझने लायक श्रोता सामने उपलब्ध नहीं थे। अति राग के कारण किसी को सुनाते थे तो सुननेवाले लड़ पड़ते थे। उस समय की अभी तुलना करते हैं तो सात्त्विक आनन्द हुए बिना नहीं रहता; क्योंकि आज डॉ. भारिल्ल को सुनने-पढ़नेवाले देश-विदेश में लाखों लोग हैं।

वर्तमान काल का यह सौहार्दपूर्ण वातावरण वर्तमान की उज्ज्वलता को स्पष्ट करता है, साथ ही साथ उज्ज्वल भविष्य का सूचक है ह्न ऐसा कहना-मानना अप्रासंगिक नहीं होगा।

शुद्ध व सुन्दर टाइपसैटिंग के लिए दिनेश शास्त्री एवं सुन्दरतम मुद्रण के लिए अखिल बंसल धन्यवाद के पात्र हैं।

'रहस्य : रहस्यपूर्णचिट्ठी का' लाभ पाठक लेंगे ही लेंगे ह्न इस विश्वास के साथ विराम लेता हूँ। ह्न **ब्र. यशपाल जैन *एम.ए.***

प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

रहस्य : रहस्यपूर्णचिट्ठी का

प्रवक्ता एवं सम्पादक
डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पी-एच.डी., डी-लिट्

प्रकाशक
श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल
४८/२ ए, पद्मोपुकर रोड, कोलकाता-२०
एवं
पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५ (राज.)
फोन : २७०७४५८, E-mail : ptstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण	:	५ हजार
(२ मार्च २०११)		
द्वितीय संस्करण	:	३ हजार
(२२ जुलाई, २०१२)		
कुल	:	८ हजार

मूल्य : **१० रुपये**

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

१. श्रीमती ममताजी जैन, कोटा	२१००.००
२. श्री शान्तिलाल रिखबदासजी जैन, मुम्बई	२०००.००
३. श्री कमलजी बड़जात्या, मुम्बई	२०००.००
कुल राशि :	**६१००.००**

टाइपसैटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स
ए-४, बापूनगर, जयपुर-१५

मुद्रक :
श्री प्रिन्टर्स
मालवीयनगर, जयपुर

अनुक्रमणिका

१. पहला प्रवचन	१
२. दूसरा प्रवचन	१७
३. तीसरा प्रवचन	३२
४. चौथा प्रवचन	४९
५. पाँचवाँ प्रवचन	६५
६. छठवाँ प्रवचन	८१
७. सातवाँ प्रवचन	९७